

संन्यासनिर्णय

अष्टटीकाभिः समलंकृतः



श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

ग्रन्थ-परिचय

सन्न्यासनिर्णयकी रचना वि। सं। १५५१में बदरिकाश्रमकी यात्राके अवसरपर नरहरि सन्न्यासीकेलिए की गई ऐसी एक किंवदन्ती मिलती है।

श्रीयदुनाथजीविरचित श्रीवल्लभदिग्विजयके अनुसार श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी यात्रा तीन बारकी थी। द्वितीय यात्रामें कृष्णदास मेघनके आपके साथ होनेके उल्लेख तथा व्यासाश्रम पधारनेका उल्लेख भी मिलता है। इस प्रसङ्गकी सूचना वहांके तीर्थपुरोहितको दिये गये वृत्तिपत्रमे भी मिलती है। इस वृत्तिपत्रमें यात्राकाल 'देवाम्भपतिभू (१४३३) मिते' तदनुसार वि। सं। १५६८ उल्लिखित है। अतः यदि वि। सं. १५५१ वाली किंवदन्ती प्रामाणिक हो तो उसे प्रथम यात्राका काल मानना पड़ेगा।

इसकी पुष्टि चौरासी वैष्णवन्की वार्तासे भी होती है:

“सो एक समय नरहर सन्न्यासी बदरिकाश्रम फिरते-फिरते आये। तहां श्रीआचार्यजी महाप्रभु पधारे सो नरहर सन्न्यासीको दरसन भये। तब नरहर सन्न्यासी श्रीआचार्यजी महाप्रभुनसों विनन्ती किये-“महाराज मैं पहिले सन्न्यास ग्रहण कियो हतो। पाछे आपकी कृपाते भक्तिमार्गमें आयो सो सन्न्यासके प्रकार हैं सो तो मैं जानत हों और भक्तिमार्गको कहा प्रकार है सो मैं जानत नाही। सो मोकों कृपा करि कहिये” तब श्रीआचार्यजी कहे “तोसों भक्तिमार्गके सन्न्यासको प्रकार कहत हों, तब श्रीआचार्यजी ‘सन्न्यास निर्णय’ ग्रन्थ करि नरहर सन्न्यासीको पढ़ाय भाव कहि सुनायो। तब नरहर सन्न्यासीके हृदयमें पुष्टिमार्गको सिद्धान्त स्थिर भयो, तब श्रीठाकुरजीकी लीलाको अनुभव भयों सो मग्न होय गये। पाछे श्रीआचार्यजी आगे पधारे। नरहर सन्न्यासी स्वरूपानन्दमें मग्न होय फिरिबो करते”।

श्रीमहाप्रभुके चरित्रवर्णनोंमें सर्वाधिक प्राचीन (वि। सं। १६१०में) गदाधर द्विवेदी लिखित सम्प्रदाय प्रदीपमें भी एक ‘सन्न्यासनिर्णय’का उल्लेख मिलता है। “॥श्रीवल्लभाः निर्गत्य गङ्गातीरे उपविष्टाः तत्र त्रिदण्डविधिना सन्न्यासनिर्णय उक्तः यथा विष्णुस्वामी तथा यतिर्भूत्वा काश्यां गताः” (चतुर्थ प्रकरण) किन्तु यहां ‘सन्न्यासनिर्णय’ ग्रन्थवाचक है अथवा ग्रन्थरूपेण निबद्ध न किये गये किसी मौखिक उपदेका वाचक है, यह निश्चित नहीं हो पाता है। इसके अलावा ‘त्रिदण्डविधिना’ पदपर भी ध्यान देना चाहिये। क्योंकि षोडशग्रन्थान्तर्गत प्रस्तुत सन्न्यासनिर्णयग्रन्थमें कही भी त्रिदण्डविधिसे सन्न्यास ग्रहण करने या न करने का कोई भी विचार उपलब्ध नहीं होता है।

१वैष्णववाणी (अंक ४ वर्ष १९७९)में श्रीनागरदास शास्त्रीद्वारा लिखित लेख

षष्ठात्मज श्रीयदुनाथजी विरचित श्रीवल्लभदिग्विजयमें, काशीमें आसुरव्यामोहलीला करनेसे पूर्व दामोदरदास प्रभृति वैष्णवोंद्वारा सन्यासकी अभ्यर्थना करनेपर उनकेलिए सन्यासकी अनावश्यकता दिखलानेकेलिए एक मौखिक उपदेशका वर्णन मिलता है। उस सन्यासनिर्णयके उपदेशसारको भी वहां सङ्कलित किया गया है, जिसे ध्यानसे पढ़नेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत षोडशग्रन्थान्तर्गत और उक्त सन्यासनिर्णयमें उपदिष्ट विषय भिन्न-भिन्न है।

कुल मिलाकर दो सम्भावना सामने आती है:

१. बदरिकाश्रमकी प्रथम यात्रा सम्भवतः वि। सं। १५५१में नरहरि सन्यासीकेलिए प्रस्तुत षोडशग्रन्थान्तर्गत सन्यासनिर्णय लिखा गया था।

२. लोकगोचर देहदेशत्याग अर्थात् आसुरव्यामोहलीला करनेकी तृतीय भगवदाज्ञाके पश्चात् अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थकी रचना जैसे श्रीमहाप्रभुने स्वयम्केलिए की, वैसे ही सन्यास लेनेसे पूर्व इस सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी रचना भी आपने स्वम्केलिए ही की है। अर्थात् वि। सं। १५८७ में।

इनमें प्रथमका समर्थन तो पूर्वोक्त चरित्रग्रन्थोंकी एकवाक्यतासे स्पष्ट होता ही है। द्वितीय सम्भावनाका भी समर्थन हमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थका प्रणयन तृतीय भगवदाज्ञाके बाद हुए पश्चात्तापको दूर करनेकेलिए ही हुआ है। अतः वि। सं। १५८७ रचनाकाल ही श्रीपुरुषोत्तमजीको मान्यतया सिद्ध होता है।

श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार इसका आधार वे स्वयम् इन शब्दोंमें देते हैं—“माया तु तेषां परस्परविसम्मतिमवलोक्य अन्तःकरणप्रबोधग्रन्थस्य ‘पश्चात्ताप’—‘परित्याग’ पदयोः अत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव पश्चात्तापो अत्र निवर्त्यत्वेनादृतः” परन्तु केवल दो समान पद ‘पश्चात्ताप’ तथा ‘परित्याग’ के पुनरावर्तनको^१ परम्पराप्राप्त इतिवृत्तसे बलवत्तर नहीं माना जा सकता है। इसके अलावा सर्वोत्तमस्तोत्रमें—“विरहानुभवैकार्थं—सर्वत्यागोपदेशक” नामकेद्वारा श्रीप्रभुचरण भी प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थके—“विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागप्रशंसकः” अथवा “विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागपरायणः” न कहकर ‘उपदेशकः’ कहना इस बातका द्योतक लगता है कि प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने अन्तःकरणप्रबोधकी तरह स्वम्केलिए नहीं किन्तु अपने अनुयाईओंकेलिए उपदेशके रूपमें प्रकट किया है।

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजी भाष्यप्रकाश (३।४।४२)में—“बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च” के भाष्यांशकी तथा प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी एकवाक्यता स्वीकारते हैं—

१आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे। यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद् द्वयं मया॥ देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः। पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा॥

(अन्तःकरण ५-७)

“एतस्य प्रपञ्च सन्यासनिर्णयग्रन्थादवगन्तव्यः” यहां प्रारम्भमें भक्तिमार्गके मध्यम कक्षाके अधिकारीकेलिए आवश्यक साधनत्यागका विचार इस अधिकरणका प्रमुख उद्देश्य है ऐसा दिखलाते हैं: “अथ भक्तिमार्गीयमध्यमजघन्ययोः फलविचारोत्तरं मध्यमस्य त्यागरूपं साधनं चिन्त्यते”। भागवतके एकादश स्कन्धके अठाहरवे अध्यायमें- “यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेततः” कारिकासे प्रारम्भ कर सोलह कारिकाओंमें पहले भगवान्ने उद्धवको त्रिदण्ड सन्यासका स्वरूप समझाया है और इसके बाद- “ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मदूभक्तो वानपेक्षकः सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः” कारिकामें चतुर्थ आश्रमरूप सन्याससे भिन्न एक सन्यासकी आज्ञा दी गई है; यह सन्यासकी आज्ञा पूर्वोक्त भाष्य (३।४।४२) तथा सन्यासनिर्णय ग्रन्थका आधारभूत वाक्य है। उद्धवने भी इस सन्यासकी आज्ञाके बाद सर्व परित्याग किया था तथा यह परित्याग मध्यमाधिकाररूप था, यह त्रिविधनामावलोके- “उद्धवादिमध्यमभावबोधकाय नमः” से स्पष्ट होता है। ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजी स्वीकारते हैं।

ऐसी स्थितिमें सन्यासनिर्णयग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने स्वयम्केलिए लिखा यह कहना कुछ असमज्जस सा लगता है। क्योंकि सर्वप्रथम तो सन्यासनिर्णयग्रन्थमें मध्यामधिकारीके त्यागके प्रकारको प्रतिपाद्य विषय माना गया है; और व्यर्थ ही श्रीमहाप्रभु स्वयम्के बारेमें मध्यमाधिकारिताका निर्णय लें यह सङ्गत नहीं लगता। श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार तृतीय भगवदाज्ञा भी “लोकपरित्यागविषयिणी” थी। इस आज्ञाका तात्पर्य मध्यमाधिकारवाले सन्यासग्रहणार्थ लेनेमें कोई विशेष हेतु दृष्टिगत नहीं होता है। “स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोऽपि न चान्यथा” में सन्यासचिन्होंको अनियतता या उपेक्षाका जो बोध होता है, वह भी श्रीमहाप्रभुके सर्वथा आग्रहपूर्वक यथाक्रम कुटिचक्र बहूदक हंस तथा परमहंस के क्रमनिर्वाहसे उतना सङ्गत नहीं होता।

इन बातोंको दृष्टिगत रखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि लोकगोचर देहदेशत्यागकी तृतीय भगवदाज्ञाके परिपालनार्थ श्रीमहाप्रभुने सन्यासनिर्णय ग्रन्थमें वर्णित मध्यमाधिकारवाला सन्यास नहीं किन्तु चतुर्थाश्रमरूप नित्यसन्यास ही आपने लिया था: “।।।आश्रमचतुष्टयपक्षे नित्यसन्यासो भवति। तत्र ब्राह्मण्यं, वयः पूर्वाश्रमानन्तर्यं च प्रयोजकं न ज्ञानादि” (सुबो। ३।१२।४२)। सन्यासनिर्णयमें “कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः” वचनद्वारा जिस चतुर्थाश्रमरूप सन्यासकी भक्तिमार्गीय जीवोंकेलिए अनुपादेयता, तथा सर्वनिर्णयमें-त्रिदण्डं परिगृहणीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्।।। प्रतिपत्तिरियं सर्वा देहस्य” वचनद्वारा जिस चतुर्थाश्रमरूप शास्त्रविहित सन्यासकी ब्राह्मणदेहकेलिए आवश्यकता शास्त्रसम्मत मानी गई है, वही सन्यासका प्रकार श्रीमहाप्रभुने स्वीकारा था।

पुष्टिमार्गमें फलानुभूति इस भूतलपर ही उत्तम मानी गई है- “भगवानेव हि फलं स यथा विर्भवेद् भुवि” (पु। प्रा। मा।) आगे चलकर सेवाफलमें भी वर्णित उत्तम फल “अलौकिक सामर्थ्य” सर्वेन्द्रियोंसे भगवान्को रसात्मिका अनुभूति इसी

भूलतपर स्वीकारी गई है। पर प्रभु जब आचार्यचरणको लोकगोचर देह-देश-त्यागकी आज्ञा प्रदान कर रहे थे, मर्यादामार्गीय रीतिसे, तब तदनुरूप पारमहंस्य सन्यास भी आपने ग्रहण किया “सन्यासेन देहत्वागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नाम” (जाबालोपनिषद्)।

अतएव अन्तःकरणप्रबोधके-“प्रोढापि दुहता यद्वत् स्नेहान्न प्रेष्यते वरे तथा देहे न कर्तव्यं” तथा सर्वनिर्णयके-“न्यासे सर्वपरित्यागी।।।तादृशस्य बलाद्वापि देहत्यागो विमुक्तिदः” इन दोनों वचनोंकी तुलना करनी चाहिए।

फलतः सन्यासनिर्णय यह सहज सम्भव है कि श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी प्रथम यात्राके समय नरहरि सन्यासीकेलिए ही बनाया हो।

भक्तिवर्धिनीमें यह दिखलाया गया था कि जिनका बीजभाव दृढ़ हो वे गृहत्याग करके भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनद्वारा भी अपनी भक्तिको विकसित कर सकते हैं। अन्यथा बीजभावके दृढ़ न होनेपर उसे दृढ़ करनेकेलिए व्यक्तिको यथावसर भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनोंको अपनाना चाहिये, यदि वह अव्यावृत्त हो तो। अन्यथा व्यावृत्त होनेकी अवस्थामें अर्थात् निजगृहमें भगवत्सेवाकी शक्यता न होनेपर बीजभावकी दृढ़ताकेलिए केवल भगवत्कथाके श्रवणादिसे भी प्रेमासक्तिव्यसनकी उत्तरोत्तर अवस्थाओंमें भक्ति विकसित हो सकती है।

भगवत्कथाके श्रवणादिसे जब स्नेह उत्पन्न होता है तब सांसारिक विषयोंमें अनुराग नष्ट हो जाता है-भगवदासक्ति स्थिर होनेपर भगवत्सेवामें अनुपयोगी गृहमें भक्तकी अरुचि हो जाती है-भगवत्सेवार्थ उपयोगमें न आनेवाले घर और घरकी सारी वस्तु भक्तकी भक्तिमें बाधक लगने लगती हैं-धीरे-धीरे यों जब कृष्णभक्ति व्यसनदशापर पहुंच जाती है, तब जीव कृतार्थ हो जाता है। ऐसी व्यसनदशापर पहुंचनेवाले व्यक्तिकेलिए भी भगवत्सेवार्थ अनुपयोगी घरमें सतत निवास करना, कभी भक्तिमें व्यवधानका हेतु बन सकता है। भक्तिका विनाशक हो सकता है। अतः भक्तिकी दृढ़ताकेलिए केवल कृष्णदर्शनकी तीव्र लालसासे जो गृहत्याग कर पाते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट परा सुदृढ़ भक्तिका लाभ होता है (भक्तिवर्धिनी)।

इसके बाद भक्तिवर्धिनीमें जो इस प्रकारका त्याग नहीं कर पाते उनके कर्तव्य दिखलाये गये हैं, परन्तु जो त्याग करनेमें समर्थ हों उन्हें वह त्याग कैसे किस अवस्थामें, किस भावनाके साथ और किस लक्ष्यकी प्राप्तिकेलिए करना चाहिये इत्यादि विषयोंका निरूपण नहीं हो पाया। जिनसे स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभती हो और जो गृहत्यागकेलिए भी अपने आपको समर्थ न पाते हो उन्हें यह सुझाया गया था कि उन्हें ऐसे भगवदीयोंके समीप बसना चाहिये कि जो सेवा-कथा-परायण जीवनयापन करते हों। वे यदि छूट दें तो उनकेद्वारा की जाती भगवत्सेवामें सहयोगी-परिचारक भो बनना चाहिये। इसी सन्दर्भमें भगवत्कथाकेलिए आवश्यक योग्य वक्ता एवम् श्रोताका स्वरूप बीचमें जलभेद और पञ्चपद्यानिमें समझाया गया था। अतः अवशिष्ट गृहत्यागका विचार आवश्यक था ही, जिसे इस सन्यासनिर्णय ग्रन्थद्वारा पूर्ण किया जा रहा है।

सर्वनिर्णय निबन्धमें कारिका १९१से कारिका २१४ तक सन्यास त्याग भक्ति आदि अनेक विषयोंका निरूपण किया गया है, पर वह मुख्यतया पुष्टिमार्गीयोंकेलिए नहीं, अपितु सभी दैवी जीवोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया उपदेश है। अतएव कारिका १९६में “भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति। न सोच्यते” वचन उपलब्ध होता है। अतएव वहां, सन्यासग्रहणके शास्त्रीय प्रकार पर बहुत भार दिया गया है—“त्रिदण्डं परिगृहीत सर्वशास्त्रविरोधि तत्” जबकि यहां सन्यासनिर्णयमें सामान्य रूपसे “वेशः सोपि न चान्यथा” कहनेमें वह भार दिखलाई नहीं देता। क्योंकि दैवी जीवोंकेलिये आवश्यक सन्यासके सामान्य प्रकारसे भिन्न एक विशिष्ट प्रकारके सन्यासकी आज्ञा यहां श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं।

सर्वनिर्णयान्तर्गत सन्याससम्बन्धी विचारके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं। ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ अथवा सन्यासमें से किसी भी एक आश्रयमें नैष्ठिक होकर रहा जा सकता है, अथवा क्रमशः उत्तरोत्तर आश्रमोंमें प्रवेश किया जा सकता है, अथवा आयुष्यके चार समान भाग करके एक-एक भागका यापन एक-एक आश्रममें किया जा सकता है। सर्वत्र फल तुल्य ही होता है क्योंकि शास्त्रोंमें सभी आश्रमोंकी प्रशंसा मिलती है। ऐसी स्थितिमें समनन्तरक्रम और आयुःक्रम वाले कल्पमें सन्यास एक शास्त्रीय आवश्यकता प्रतीत होती है।

जबकि षोडशग्रन्थान्तर्गत सन्यासनिर्णयमें, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग या अदृढ़ बीजभावकी अवस्थामें भक्तिमार्गमें भी श्रीमहाप्रभु सन्यासको अनुमोदनीय नहीं मानते।

इन दोनों दृष्टिकोणोंको एकवाक्यता इस तरह घटित हो जाती है कि पुष्टिमार्गीयेतर दैवी जीवोंकेलिए आश्रमक्रम अथवा आयुःक्रम कल्पमें, चतुर्थाश्रमरूप सन्यास वर्णाश्रमधर्मके रूपमें अनिवार्य नहीं है—“अन्तःकरणे संस्कारविशेषाधायकत्वं च प्रतीयते सन्यासस्य। स च संस्कारः फलोपकार्यगमित्यावश्यकः सन्यासो मर्यादामार्गः। पुष्टिमार्गे त्वन्यैव व्यवस्था—“न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह” इति वाक्यात्”। (अणु। ३।४।१७)।

अतः पुष्टिमार्गीय साधक यदि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें भगवत्सेवाको निभा पाता है तो गृहत्याग या सन्यास अनावश्यक है—“त्यागे वाङ्मनसोरेव भगवति विनियोगो न सर्वेन्द्रियाणाम् गृहिणस्तु सर्वैः प्रकारैर्भजनं भवति इति परिजनश्च कृतार्थो भवतीति भजने कृत्स्नता” (अणु। ३।४।४७)। अन्यथा स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभनेपर अर्थात् किसी पुष्टिभक्तके व्यावृत्त होनेपर सर्वप्रथम उसे स्ववर्णाश्रमोचित धर्मोंका पालन करते हुए भगवत्कथाके श्रवण-मनन-कीर्तनद्वारा भक्तिके बीजभावको दृढ़ बनाना चाहिये। बीजभावके दृढ़ होनेपर अपने घरमें भगवत्स्वरूपके सेवा-दर्शन-स्पर्शन आदिके संयोगसुखके न मिलनेके कारण तथा पारिवारिक झंझटोंमें भगवद्विप्रयोगजन्य दुःखानुभूतिमें भी व्यवधानोंको देखते हुए गृहत्याग कर देना उचित होता है—“विरहानुभवाथं तु परित्यागः प्रशस्यते”।

बीजभावके दृढ़ होनेपर भक्तको यह स्वतएव समझमें आने लगता है कि—“गृहस्थितेरुत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं

वा अन्यथा न स्थातव्यम्” (सुबो। ३।१।२)।

पुनश्च यहां यह अवधेय हो जाता है कि श्रीमहाप्रभुके समक्ष न तो भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेकी कोई समस्या थी और न स्वगृहमें भगवत्सेवाके अनिर्वाहकी ही। न सतत गृहस्थितिसे भक्तिके बीजभावके विनाशकी ही और न विरहानुभवार्थ परित्यागकी भी। क्योंकि सन्यासमें मुक्तिसे अधिक अव्यग्रता तो सम्भव नहीं, जबकि मुक्तिके बारेमें आपका स्पष्ट अभिप्राय है कि-“स्वतन्त्रभक्तानां तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैस्तथान्तःकरणैः स्वरूपेणचानन्दानुभवः अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रम एव विशिष्यते” (शास्त्रार्थप्रकरण)। इसी तरह सर्वोत्तममें आपको-‘रासलीलैक

तात्पर्य’ कहा गया होनेसे विरहानुभवार्थ भी सन्यासमें आपका प्रवृत्त होना बहुत अर्थपूर्ण नहीं रह जाता। स्वगृहमें भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन उत्तमाधिकारका द्योतक है तथा वह सम्भव न होनेपर भगवद्भवनानुभवार्थ सन्यासग्रहण करना भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारका द्योतक है।

यद्यपि “कृत्स्नभावात्त गृहिणोपसंहार” (ब्रह्मसूत्र ३।४।४७) के भाष्यके उपसंहारमें, “कुछ दुर्लभ प्रकारके-राजा आशकरणदास जैसे-भक्त भगवत्सेवा करते हुए भी गृहत्याग कर देते हैं”। ऐसा उल्लेख मिलता है। परन्तु उस गृहत्यागके जो कारण वहां दिखलाये गये हैं, वे यों हैं-“केचन भक्ता भाषणादिलीलादर्शनं विना स्थातुमशक्ता प्रचुरभावविवशाशयाः गृहांस्त्यक्त्वा वनं गच्छति”। स्पष्ट है यह बात श्रीमहाप्रभुपर लागू नहीं होती। अतएव भाष्यकार यही कहते हैं-“तेन भगवद्भजन एव तत्रापि पुष्टिमार्ग एव श्रुतेर्भरः इति ज्ञायते”। अतः जिन्हें भगवत्सेवाका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता उनकेलिए विरहानुभवार्थ सन्यासका कल्प है। इससे यह सुदृढ़ होता है कि श्रीमहाप्रभुके सन्यासके स्वरूप एवम् प्रयोजन इस सन्यासनिर्णयमें निरूपित भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारके द्योतक सन्यासके स्वरूप एवम् प्रयोजनसे भिन्न ही थे।

अतएव दामोदरदास प्रभृति वैष्णवोंकी सन्यासमें भी आपके अनुवर्तनकी प्रार्थनाको श्रीमहाप्रभुने अस्वीकार कर दिया था, श्रीयदुनाथजीके शब्दोंमें, “ततो दामोदरादीनां सहयानार्थं सन्यासग्रहणार्थं चार्थना जाता। अथाचार्यैः युष्माकं भागवतसन्यासोत्स्येव। मत्कार्यार्थम् उद्धवादिवदिहैव स्थातव्यमित्युक्त्वा सन्यासनिर्णयः श्रावित”। ‘भागवत सन्यास’ से आपका तात्पर्य ब्रह्मसम्बन्धगद्यद्वारा आत्मनिवेदनके बारेमें ही प्रतीत होता है। स्वयम् श्रीमहाप्रभुके त्रिदण्डविधिसे सन्यासग्रहणका प्रयोजन भगवदाज्ञाका पालन ही था अतः वैसी आज्ञाके अभावमें अन्य अनुयाईओंकेलिए सन्यासमें आपका अनुवर्तन सर्वथा अनावश्यक था।

नरहरि तो पहले ही सन्यास ले चुके थे। और एक आश्रयसे दूसरे आश्रममें एक बार पहुंचनेके बाद पुनरावर्तन सर्वथा शास्त्रनिषिद्ध है, अतएव वृन्दावनमें पहले नरहरिको त्रिदण्डविधिसे अर्थात् शास्त्रसम्मत रीतिसे सन्यास लिवाया गया और बादमें बदरिकाश्रममें उन्हें इस सन्यासनिर्णय ग्रन्थके उपदेशद्वारा भगवद्भवनानुभवमें दीक्षित किया गया

सन्न्यासका विधान पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठनेवालेकेलिए शास्त्रमें मिलता है। परन्तु शिष्यैषणामें ये तीनों वासनायें छद्म रूपसे त्रिगुणित हो जाती हैं। पुत्र तो दोचार पैदा हो जायें तो लालसा सन्तुष्ट हो जाती है, परन्तु शिष्यैषणा तो दोचार हजार चेलोंके जुट जानेपर भी सन्तोषका नाम नहीं लेती अतएव अपने सहज परिवारके पोषणके लिए वित्तकी अपेक्षा उतनी नहीं होती जितनी कि मठ या आश्रमों में जुटें चेलोंके पोषणकेलिए होती है। एक सांसारिक व्यक्ति अपने गुणोंकी कीर्तिकी लालसासे उतना ग्रस्त नहीं होता जितना कि एक आधुनिक परमहंस अपने त्यागकी कीर्तिकी लालसासे ग्रस्त होता है

वस्तुतः विरक्तकी त्यागसाधना और त्यागीकी वैराग्यसाधनामें बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

वास्तविक वैराग्य व्यक्तिको किसी सीमा तक ऊपर उठा सकता है परन्तु वैराग्यहीन त्याग हमें और नीचे धकेल देता है। श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त है कि किसी वस्तुके व्यर्थ त्यागकी अपेक्षा उसे भगवान्को समर्पित कर देना उचित बात है। अतएव जब हम समर्पित नहीं कर पाते तब केवल विरक्तिके आधार पर प्राप्त वस्तुके त्यागके बजाय भगवदनुरक्तिकी तन्मयतामें उसका त्याग किया जाये तो बात बन सकती है

त्याग अपने-आपमें एक स्वतन्त्र मार्ग होनेकी महत्ता नहीं रखता है। मार्ग तो तीन ही होते हैं: १। कर्ममार्ग २। ज्ञानमार्ग ३। भक्तिमार्ग। कर्म, ज्ञान या भक्ति के अङ्गरूपेण त्यागकी महत्ता अवश्य मान्य हो सकती हैं, किन्तु इनसे रहित केवल त्याग तो मनुष्यको केवल परिव्राजक ही बना पाता है—कहीं पहुंचाता नहीं

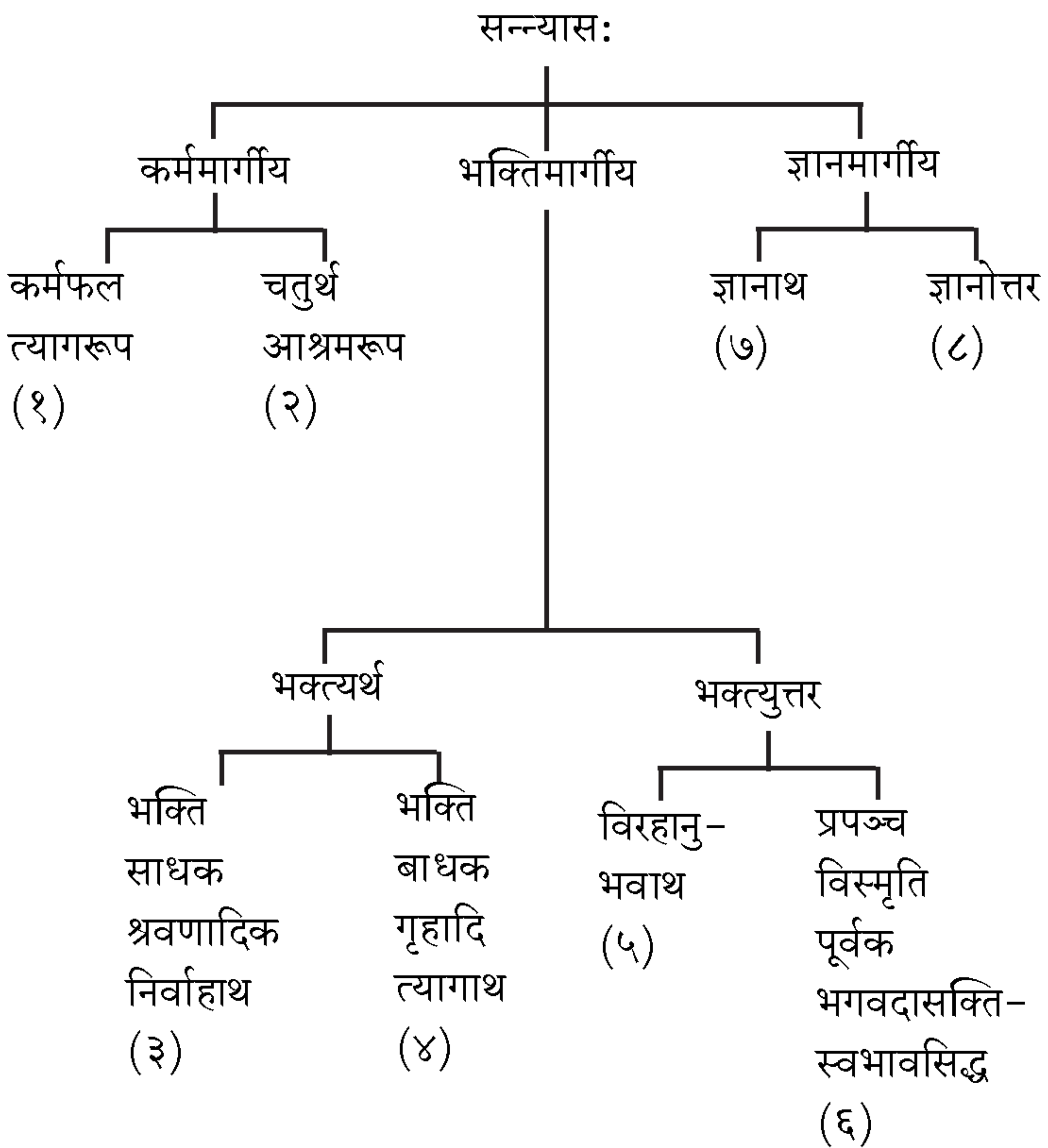
श्रीमहाप्रभु सन्न्यासका निर्णय केवल वैराग्यके सन्दर्भमें देना पसन्द नहीं करते हैं। कर्म, ज्ञान या भक्ति में से किसी एकके साथ वैराग्यके प्रकट होनेपर सन्न्यास या त्याग का विचार प्रासङ्गिक बनता है। भागवत (११।२०।७-८)में आता है कि—“योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोन्योस्ति कुत्रचित्, निर्विण्णनां ज्ञानयोगः॥ कर्मयोगस्तु कामिनां॥ न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोस्य सिद्धिदः” अर्थात् विरक्तिप्रधान साधनकेलिए ज्ञानयोग, सकाम साधकोंकेलिए कर्मयोग; एवम् न विरक्त और न अतिसकाम ऐसे साधकोंकेलिए भक्तियोग सिद्धिप्रद होता है। इन कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर आगे बढ़नेपर अर्थात् वैराग्यके दृढ़ होनेपर सन्न्यासका विचार प्रासङ्गिक बनता है।

इस विषयमें सुबोधिनी (३।१२।४२)में एक विस्तृत स्पष्टीकरण श्रीमहाप्रभुने दिया है। उसका अनुवाद देख लें:

“ब्राह्मणकेलिए यह आवश्यक है कि वह चारों आश्रमोंमें क्रमशः प्रविष्ट हो॥ किसी एक आश्रममें स्थिर होना भी, वैसी कामना होनेपर, शास्त्रानुमत है॥ जो ऊर्ध्वरेतस भक्त होते हैं वे चाहें तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रममें स्थिर हो सकते हैं। सर्वथा वैराग्यरहित अर्थात् उत्कट कामनावालेकेलिए गार्हस्थ्य ही ठीक रहता है। उसे वेदोंके यथाशक्ति अध्ययन करनेके बाद, शास्त्रीय विधिके अनुसार विवाह करके, यावद्जीवन अग्निहोत्रादि कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर होना चाहिये। अतएव

आपस्तम्बकारने सभी आश्रमोंको तुल्य माना है। किसी भी आश्रमके कर्तव्योंका यथावत् पालन करनेपर सिद्धि मिलती है। कहीं-कहीं एक आश्रमकी प्रशंसा करनेकेलिए अन्य आश्रमोंकी निन्दा भी दिखलाई देती है। पर वास्तविक तात्पर्य उसका किसी आश्रम-विशेषकी प्रशंसाके रूपमें ही लेना चाहिये। अन्यथा श्रुतिवचनोमें परस्पर विरोधाभास होने लगेगा, जबकि ब्राह्मणोंका यह कर्तव्य है कि किसी भी श्रुति वचनको अप्रामाणिक न माने”।

कर्म, ज्ञान और भक्ति के तीन प्रमुख भेद और तदन्तर्गत अन्य भी उपभेदोंको दृष्टिगत रखनेपर इस प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थमें कुल आठ प्रकारके सन्यासोंके बारेमें हमें निर्णय मिलना है। बोधसौकर्यकेलिए उन्हें इस वर्गतालिकाद्वारा समझा जा सकता है:



आत्मोद्धारके तीनों ही मार्गोंमें सांसारिक अहन्ता-ममताको बाधक माना गया है। सांसारिक अहन्ता-ममतासे ऊपर उठनेके सच्चे उपाय वैराग्यसहित कर्म, ज्ञान अथवा भक्ति तो हो सकते हैं, पर केवल त्याग या सन्यास नहीं। फिरभी भ्रामक

उत्साहवश बहुधा लोग स्वमार्गमें पूर्ण निष्ठा तथा वैराग्य के अभावमें ही त्याग या सन्यास की उतावल कर बैठते हैं और स्वमार्ग तथा सन्मार्ग से भटक जाते हैं

पुष्टिमार्गीय जीव भी यदा-कदा ऐसे मिथ्याचारवाले त्याग या सन्यास के फेरेमें पड़ सकते हैं। विशेषतः स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभा पानेवाले दृढ़ बीजभाववाले भक्तोंकेलिए श्रीमहाप्रभुने भी गृहत्यागका जो उपदेश भक्तिवर्धिनीमें दिया है, उसका तात्पर्य भलीभांति न समझ पानेके कारण, पुष्टिमार्गीय विवेकके बिना उतावलमें कोई त्याग या सन्यास की गलती कर सकता है। ऐसोंके पल्ले पछतावेके अलावा और कुछ नहीं पड़ता

अपने पुष्टिमार्गीय जीव ऐसे मिथ्याचारके फेरेमें पड़ कर अपने पुष्टिमार्गीय फलसे भी वञ्चित न रह जाये सारे जीवनको ही एक महापाषण्डका नाटक न बना लें एतदर्थ श्रीमहाप्रभु त्याग सन्यास सम्बन्धी अपने विचारोंको स्पष्ट करते हैं। ताकि त्याग या सन्यास के चक्करमें फंसनेवाले सम्भावित पश्चात्तापसे बच पायें; और जो नरहरि सन्यासीकी तरह सन्यास ले ही चुकें हों उन्हें पुनः भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेकी दिशा सूझ पाये पश्चात्तापसे उभर कर

१ कर्मफल-त्यागरूप कर्ममार्गीय सन्यासः

तत्तद् वर्ण या आश्रम आदिकी दृष्टिसे जो कर्म नियत होते हैं उनका परित्याग उचित नहीं होता। (दृ। गीता ३।८)। सर्वनिर्णयके प्रारम्भमें यह कह दिया गया है कि केवल नित्यकर्मका फल आत्मसुखरूप होता है तथा उसके त्याग करनेपर प्रत्यवाय-अपराध लगता है। यही नित्यकर्म ब्रह्मविद्याके सहित हो तो ब्रह्मानन्दका दान भी करता है-“भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरिव” (सर्वनि। ४) हर सूरतमें वर्णाश्रमाचारादि शास्त्रविहित नित्य कर्तव्योंका त्याग देहाभिमानके बने रहनेतक शास्त्रनुमोदित नहीं है (यावद् देहाभिमानः तावद् वर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्म सुबो। ३।२८।२)।

निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवाला भी ब्रह्मसंस्थ हो सकता है, ऐसा श्रीशङ्कराचार्य नहीं मानते-तस्माद् य एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रमविहितकर्मवतां सोऽमृतत्वमेति। न कर्मनिमित्तविद्याप्रत्ययोर्विरोधात्” (छां। भा। २।२३।१)। किन्तु गीता (३।५।८) के अनुसार श्रीमहाप्रभुके मतमें नियत कर्मका त्याग उचित नहीं होता। अतः ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य या वानप्रस्थ में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक व्रत धारण कर स्वाश्रमोचित कर्तव्योंका जो निष्काम अनुष्ठान करता है उसे आत्मसुखरूप कर्ममार्गीय मोक्षकी प्राप्ति होती है (दृ। गीता २।५०-५१) यदि ब्रह्मविद्याके साथ कोई निष्काम कर्मानुष्ठान करता है तो ज्ञानमार्गीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (दृ। गीता ४।२४)। भगवद्भक्तिके साथ निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवालोंको भजनानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (गीता ९।३४)।

बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२)में-“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति

यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन एतमेव विदित्वा मुनिः भवति” कह कर ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमके कर्तव्योंके निष्काम अनुष्ठानको भी चित्तकी ब्रह्मज्ञानोपयोगी शुद्धिमें विविदिषामें साधन माना गया है।

वेदानुवचन यज्ञ और दान का आश्रमधर्म होना छान्दोग्य (२।२३।१) के- “त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव। द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी। तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्तोऽमृतत्वमेति”। वचनसे एकवाक्यता करनेपर स्पष्ट होता है। ‘वेदानुवचन’ और ‘अध्ययन’ समानार्थी है। ‘यज्ञ’ और ‘दान’ तो बृहदारण्यक एवम् छान्दोग्य दोनोंमें समानरूपमें मिलते ही हैं। छान्दोग्यमें इन अध्ययन, दान और यज्ञ के ब्रह्मविद्यारहित अनुष्ठानका फल पुण्यलोककी प्राप्ति माना गया है, तथा ब्रह्मविद्यासहित अनुष्ठानका फल ‘ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वेमेति’ कह कर ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिद्वारा मोक्ष भी माना ही है। ‘आचार्यकुलवासी’ पदद्वारा इन कर्तव्योंकी आश्रमधर्मता भी स्पष्टकी गयी है।

गीता (१२।४।७) में भी भगवान्ने अतएव इन कर्मोंके त्यागको अनुचित माना है- “निश्चयं शृणुमे तत्र त्यागे।।। यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्, यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणां, एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानीतिमे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमं, नियतस्य च सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते मोहत्तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्त्यतेः”। कर्मसन्न्यास और कर्मयोग में कर्मयोगकी उत्तमता दिखलाते हुए कर्मयोगका भी ब्रह्मसंस्थ होकर अनुष्ठान- “ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा” (गीता ५।१०) भगवान्ने सम्भव माना ही है।

कर्ममार्गमें अतएव काम्यकर्म अथवा कर्मफलाशा का त्याग तो उचित माना है किन्तु नियत कर्मोंके त्यागको उचित नहीं माना गया है। “अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निं चाक्रियः” (गीता ६।१) आदि अनेक वचनोंसे काम्यकर्म और कर्मफलाशा के त्यागको सच्चा सन्न्यास माना गया है, नियत कर्मोंके त्यागको नहीं।

सर्वनिर्णय (कारिका २४६ के प्रकाश)में श्रीमहाप्रभुने कहा है- “गृहस्थस्यैतन्मुख्यम्। एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यमश्नुते। ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत्कर्तव्यम्”। इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गमें भी देहाभिमानके बने रहने तक नियत कर्मोंके त्याग किये बिना भक्तिमार्गीय कर्तव्योंका पालन आवश्यक होता है। चतुर्थाश्रममें गृहत्याग विहित होनेसे स्वगृहमें भगवत्सेवाके निर्वाहका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता अतः उसमें कृष्णदर्शनलालसाके साथ निरन्तर तीर्थयात्राका उपदेश दिया गया है, यहीं सर्वनिर्णयमें।

अतः पुष्टिमार्गीय जीवकेलिए कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे यावद्-देहाभिमान स्ववर्णाश्रमधर्मका त्याग उचित नहीं है; तथा साधनदशामें भी गृहत्याग उचित कर्तव्य नहीं रह जाता है-“कर्ममार्गे न कर्तव्यः”। शास्त्रनियत वर्णाश्रमधर्मोंके अनुष्ठानमें काम्यकर्म तथा कर्मफलाशातो त्याज्य हैं ही। “वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः स एव मदभक्तियुतो निःश्रेयकरः परः (भाग। ११।१८।४७)।

२ चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय त्याग-

जैसे नैष्ठिक व्रतके साथ ब्रह्मचर्य गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमोंका विधान है, वैसे ही क्रमशः चतुर्थाश्रममें प्रवेश करनेका भी विधान मिलता ही है। तथा पूर्वोदाहृत बृहदारण्यकके वचनमें ही यह आता है कि “एतमेव प्रब्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति।।। पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्या चरन्ति।।। नैनं कृताकृते तपतः।।” अर्थात् वेदाध्ययन दान, यज्ञ, तप रूप कर्मवाले ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंके द्वारा ब्राह्मण जिस ब्रह्मके ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हैं, सन्यासआश्रमद्वारा भी उसी ब्रह्मकी प्राप्ति चाही जाती है। पुत्र, धन या लोक के बारेमें सभी तरहकी कामनाओंको छोड़कर जो भिक्षाचर्या करते हैं।।। उन्हें कृताकृत कर्मोंके फल भगतनेका सन्ताप नहीं होता।

जाबालोपनिषद्में भी-“ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा, प्रव्रजेद्” यों क्रमशः एक आश्रमके अनन्तर दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेका क्रमपक्ष दिखलाया ही गया है।

मनुस्मृति (६।८६-८७) के भी-“ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।।। चत्वारः पृथगाश्रमाः सर्वेपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रनिषेविता यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्” वचनमें क्रमपक्षका उल्लेख मिलता है

भागवत (११।१८।११-२७) में वानप्रस्थकी रीति समझाकर चतुर्थाश्रमरूप सन्यासधर्मका निरूपण भी किया गया है। इसके अन्तर्गत त्रिदण्ड-सन्यासकी रीति भी समझायी गयी है: “यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः” आदि वचनोंद्वारा।

इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थाश्रमरूप सन्यासग्रहण भी एक नियत कर्तव्यसा है।

जो “तृतोयेऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्” वचनके अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत धारण नहीं कर लेते; अथवा “यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति” वचनके अनुसार नैष्ठिकगार्हस्थ्यका व्रत धारण नहीं कर लेते, अथवा “अरण्यमियात् ततो न पुनरेयात्” वचनके अनुसार नैष्ठिक वानप्रस्थका व्रत धारण नहीं कर लेते, उन्हें क्रमपक्षके अनुसार तीन आश्रमोंके बाद चतुर्थ सन्यासाश्रममें भी प्रवेश अवश्य करना चाहिये।

इसका अपवाद भी यद्यपि जाबालोपनिषद्में दिखलायी देता है—“यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरब्रती वा ब्रती वा, स्नातको वाऽस्नातको वा, उत्सन्नाग्निरनग्निको वा। यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्”। किन्तु यह प्रकार सर्वसाधारण नहीं हैं किन्तु अतिविरक्त ब्रह्मज्ञानियोंकेलिए ही है—“एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति सन्न्यासी ब्रह्मविद् इति एवमेव एष” (वहीं)। साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिये ब्रह्मज्ञानी भी इस प्रकारका सन्न्यास अतिवैराग्यके प्रकट होनेपर ही कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतः इस वचनमें प्रव्रज्यापर विधिभार नहीं हैं अपितु वैराग्यकी अनिवार्यतापर विधिभार है—“यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत” अन्यथा वैराग्यके अभावमें सन्न्यास नहीं लेना चाहिये। इसका वर्णन आगे चलकर ‘ज्ञानोत्तर सन्न्यास’ के रूपमें किया जायेगा।

चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक वैध सन्न्यास पूर्वोदाहृत अणुभाष्य (३।४।१७) के “सच संस्कारः फलोपकार्यगमित्यावश्यकः सन्न्यासो मर्यादामार्गे। पुष्टिमार्गे तु अन्यैव अवस्था” वचनके अनुसार मर्यादामार्गीय साधकोंकेलिए आवश्यक है ही।

चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक वैध सन्न्यास पूर्वोदाहृत अणुभाष्य (३।४।१७)के “सच संस्कारः फलोपकार्यगमित्यावश्यकः सन्न्यासो मर्यादामार्गे। पुष्टिमार्गे तु अन्यैव व्यवस्था” वचनके अनुसार मर्यादामार्गीय साधकोंकेलिए आवश्यक है ही।

भागवत (११।१२।३१-३४) के—“तस्माद मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह, यत्कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद् यदि वाच्छति। नकिञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकन्तिनो मम, वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्” इस वचनमें मोक्षकी भी स्पृहा न रखनेवाले भक्तोंकेलिए ज्ञान-वैराग्य-तप-दान-धर्म आदिकी अपेक्षा रह नहीं जाती है। अतः ऐसे पुष्टिजीवोंकेलिए चतुर्थाश्रमरूप सन्न्यास भी अनावश्यक ही होता है।

इसके विपरीत ज्ञान-वैराग्यके बिना चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्ड सन्न्यास लेकर जीनेवालोंकी भागवतमें निन्दाकी गयी है—“यस्त्वसंयतषड्वर्गो प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ज्ञानवैराग्यरहितः त्रिदण्डमुपजीवति, सुरानात्मानमात्मस्थं निन्हुते मां च धर्महा, अविपक्वकषायोस्मादमुष्माच्च विहीयते”। अतः चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक कर्ममार्गीय सन्न्यास सर्वथा शास्त्रसिद्ध एवम् शुद्ध भी होनेपर कलियुगमें बहोत अनुमोदनीय नहीं है।

पद्मपुराणमें आता ही है कि कलियुगमें भक्ति तरुणी तथा उसके दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्य जरार्जरित हो गये हैं—“अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ ज्ञानवैराग्यनामानौ कालायोगेन जर्जरौ”। अतः जीर्ण ज्ञान और जीर्ण वैराग्य वाले

साधकोंसे त्रिदण्ड सन्यासके नियम निभ पाने कठिन हैं।

श्रीमहाप्रभु अतएव निषेध करते हैं-“सुतरां कलिकालतः” कलियुगके दुष्प्रभावके कारण ज्ञानवैराग्यरहित अधिकारियोंकेलिए चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय सन्यास वैध होनेपर भी असाध्य न सही पर दुःसाध्य तो है ही। अतः सुतरां पुष्टिजीवकेलिए भी अनुमोदनीय नहीं है।

३ भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाहद्वारा भक्तिकी प्राप्तिकेलिए सन्यासः

भागवत (११।२०।९) के-“तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते” वचनके प्रथमालोकनसे ऐसा लगता है कि भगवत्कथा-श्रवणकेलिए यहां सन्यासका विधान किया गया है। वास्तविकता पर यह है कि इस वचनका मुख्य तात्पर्य वैराग्योदय या कथाश्रद्धोदय के बाद कर्मत्यागके विधानमें नहीं अपितु वैराग्योदय या श्रद्धोदय पर्यन्त कर्मत्याग न करनेमें है।

अतः स्नेहात्मिका भक्तिके साधक श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनरूप नौ अङ्गोंके निर्विघ्न अनुष्ठानकेलिए सन्यास लेनेमें पांच विप्रतिपत्तियां हैं:

१..क्योंकि सन्यासधर्मके अनुसार व्यक्तिको निरपेक्ष और एकाकी विचरण करना चाहिये-“एकः चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः” (भा ११।१८।२०) जबकि भक्तिके नवविध अङ्ग श्रवणादिके अनुष्ठानकेलिए किसी भक्तिमान् सहयोगीके सत्सङ्गकी अपेक्षा रहती है।

२. क्योंकि श्रवणकेलिए वक्ता, कीर्तन-स्मरणकेलिए ग्रन्थ-तुलसीमाला-गोमुखी; और पादसेवन-अर्चन आदिकेलिए भगवद्विग्रह, अर्चना सामग्री पुष्प नैवेद्यादि या अर्चनापात्र आदि अनेक साधनोंकी रक्षा करनेमें चितके व्यग्र होनेकी सम्भावना रहती है। यह सन्यासके अपरिग्रहके नियमके विपरीत है-“बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परं त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि (भा। ११।१८।१५)

३. क्योंकि सन्यासके कारण स्वयम्के ज्येष्ठ आश्रममें अवस्थित होनेका अभिमान जगता है-सभी सन्यासी ‘स्वामिजी’ बन जाते हैं जबकि भक्तिमें दैन्य अपेक्षित होता है ‘दास’ बननेका। श्रवणमें तत्त्वनिर्धारकेलिए कभी वादचर्चा उपयोगी हो सकती है परन्तु सन्यासमें वह वर्जित है-“वेदवादरतो न स्यात्” (भाग। ११।१२।३०) सन्यासमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच अभेदबुद्धिका अभिमान ‘सोहम्’ जगाना पड़ता है जबकि भक्ति ‘दासोहम्’ की भेदबुद्धिसे घटित होती है। भक्तिके प्रारम्भमें भगवान्के स्वामी होनेका और स्वयम्के सेवक होनेका

अभिमान अधिक उपयोगी होता है।

४. क्योंकि भक्तिके श्रवणादि अङ्गोंकी पुनः-पुनः आवृत्ति विहित है-“तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्” (भाग। २।१।५)। इसकी सुबोधिनीमें कहा गया है कि “विहिते श्रवणकीर्तने सदा भवतः त्रयाणां देहपातपर्यन्तमावृतानामेवाभयसाधकत्वम्। उत्तरावधिर्देहपातः एव। पूर्वावधिः संसारभयज्ञानम्”। यह किसी भक्तके समीप रुके बिना सम्भव नहीं है। सन्यासकेलिए जबकि निरन्तर एकाकी परिभ्रमण श्रेष्ठ माना गया है-“वासे बहुनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि एकएव चरेद् भिक्षुः (भा। ११।९।१०)।

५. क्योंकि भक्त्यङ्गभूत श्रवणादि नवविध धर्मोंका अन्तिम प्रयोजन भगवत्सेवार्थ योग्यता सम्पादित करना है और सन्यासधर्म साधकको सिद्धान्ताभिमत सेवाके स्वरूपके अयोग्य बना देते हैं।

अतः चतुर्थाश्रमरूप सन्यास या स्वतन्त्र सन्यास, वैद्य या अवैद्य, किसी भी प्रकारका सन्यास भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाहार्थ अनुमोदनीय नहीं रह जाता है।

४. भक्तिबाधक गृहादिके त्यागद्वारा भक्तिकी प्राप्तिके लिए सन्यासः

भक्तिवर्धिनीमें कहा गया था कि “गृहास्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते” अतः जब गृहस्थित सकल सम्बन्धिजन और पदार्थ भक्तिमें बाधक होते हों तो उनका परित्याग करना ही चाहिये। फलतः भक्तिकी निर्विघ्न अभिवृद्धि हो पायेगी। परन्तु भक्तिके बीज भावके दृढ़ न होनेकी स्थितिमें इस तरहके गार्हस्थ्यभीतोंका त्याग अन्तमें निरे पाषण्डमें ही कभी न कभी पर्यवसित होता है। भक्तिवर्धिनीमें भी अतएव कहा गया है कि त्यागमें दुःसङ्ग और अन्नदोष के कारण अधिक अधःपातके भयस्थान है। वही बात यहां भी तीन तरहकी विप्रतिपत्तियोंद्वारा समझायी जा रही है।

१. क्योंकि त्याग करनेके बाद भी भिक्षाटनके लिए पुनः गृहस्थोंके द्वारपर जाना पड़ता है। ये गृहस्थदाता सन्यास लेनेवालेके परिवारसे कोई अलग ढंगके नहीं होते। इनके घरका अन्न भगवान्को निवेदित किया हुआ हो यह जरूरी नहीं। अतः ऐसे अन्नसें मति भ्रष्ट हो सकती है।

२. क्योंकि कलियुगके प्रभावके कारण सब कुछ बाहरसे छोड़ देनेपर भी यह सहज सम्भव है कि आन्तरिक आसक्ति या वासना न टूटे और व्यक्ति त्यागीके बजाय पाषण्डी बन जाये।

३. क्योंकि इस तरह त्यागका पाषण्ड करनेवाले विषयाक्रान्त व्यक्तिके देहमें कभी हरिका आवेश सम्भव ही नहीं।

अतः पुष्टिमार्गीयोंको इस तरहकी अदृढ़ बीजभाववाली भक्तिकी साधनावस्थामें आश्रमरूप या स्वतन्त्र, वैद्य या अवैद्य किसी भी प्रकारका त्याग या सन्यास नहीं लेना चाहिये, यदि भक्तिसुख लेनेकी कामना हो तो।

५. भगवद्विरहानुभावार्थ भक्त्युत्तर सन्यासः

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिका व्यसनदशा पर्यन्त विकास दिखलाया गया है। उसके सिद्ध होनेपर, स्वगृहमें निश्चयेन भगवत्सेवाके न निभनेपर; और तीव्र विप्रयोगकी अनुभूतिमें घरबारकी झंझटोके कारण विघ्नकी सम्भावना दिखलायी देती हो, तब गृहत्यागकी छूट दी जा सकती है। यह सन्यास बीजभावकी दृढताके बाद किया गया होनेसे कभी भी भक्तको पथभ्रष्ट नहीं करता।

भागवत (११।१८।२८-३६) में-“ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मदूभक्तो वानपेक्षकः सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥ शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वर”। यहां चतुर्थाश्रमरूप सन्याससे भिन्न एक परित्यागकी आज्ञा स्पष्ट दिखलायी देती है।

इसी स्कन्धके बारहवें अध्यायमें भगवान्ने समझाया है-“केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगा मृगा येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः मामीयुरज्जसा, यं न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि। रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ता विगाढभावेन न मे वियोगतीव्राधयो न्यं ददृशुः सुखाय॥ तानाविदन्मय्यनुषङ्गं बद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदं, यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥ तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्”। यहां प्रवृत्तिधर्मकी तरह निवृत्तिधर्मके भी त्यागका विधान किया गया है। भक्तिकी व्यसनदशामें प्रकट होते विगाढभाव या सर्वात्मभाव के द्वारा चित्तको निरन्तर भगवदेकतान बनाये रखने और उसमें तीव्र वियोगजन्य तापको सहायक माननेकी इस भगवदनुरक्तिप्रधान वैराग्यमूलक सन्यासकी रीतिका ही-“मदूभक्तो॥ सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेद्” में विधान किया गया है।

गीता (१२।६-८)में इसी सन्यासका निरूपण है-“ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः अन्यनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसां, मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय, निवसिष्यसि मय्येव अत अर्ध्वं न संशयः”

वेशः

इस प्रकारके परित्याग करते समय यदि परिवारके लोगोंका मोह अपने बारेमें टूटता न हो तो सन्यासीका वेश धारण कर लेना चाहिये। अन्यथा वह अनिवार्य

नहीं है।

गुरुः

परित्यागके इस प्रकारमें प्रैषोच्चार आदिकेलिए किसी गुरुकी अपेक्षा नहीं है। पूर्वोदाहृत उद्धवोपदेशमें भगवान्ने गोपिकाओंके भगवदनुरागमूलक वैराग्यके वर्णनद्वारा जैसे उद्धवको भक्तिमार्गीय सन्न्यासकी प्रेरणा दी, तदनुसार इस प्रकारके सन्न्यासमें गुरु ब्रजकी गोपिकाओंको ही मानना चाहिये। कौण्डिन्य ऋषिके चरित्र (भविष्योत्तर) में भी इस प्रकारके परित्यागका उदाहरण मिलता है। अतः वे भी गुरुतुल्य है।

साधनः

पूर्वोदाहृत उद्धवोपदेशमें जैसे भगवान्ने गोपिकाओंके सर्वपरित्यागके कारणभूत 'केवल भाव'की प्रशंसा की है, तदनुरूप इस विरहानुभवार्थ सन्न्यासमें केवलभाव ही साधन है।

भावोद्बोधनका उपायः

भगवान्के मथुरा पधारनेपर जैसे गोपिकाओंको तीव्र विरहानुभूतिके कारण चित्तकी निरन्तर भगवदेकतानता सिद्ध हो गयी थी, उसी तरह अपने घरके ब्रजमें जब हमें भगवत्सेवाका सुख न मिल पाता हो, तब भगवान्के मथुरागमनकी भावना करना चाहिये। इस भावनाके कारण भक्तके हृदयमें गोपिकाओंकी तरह तीव्र विरहवेदना प्रकट होने लगेगी।।। और एकदिन अकस्मात् मन इतना विकल हो जायेगा कि भक्त घरके बाहर निकल पड़ेगा अपने भगवान्को खोजने

यह त्याग प्रपञ्चके दोषदर्शनमूलक केवल शुष्क वैराग्यसे प्रेरित न होकर प्रभुके दिव्य मधुर गुणोंके प्रति सरस अनुरागसे प्रेरित होता है। अतः परित्यागका यह प्रकार भक्तिमार्गमें प्रशंसनीय है।

त्यागके इस प्रकारको कोई अनुचित न मान बैठे इसीलिए भगवान्ने: “चरेद् अविधिगोचरः” कहकर उत्तमाधिकारियोंकेलिए इस प्रकारके त्यागकी अनुज्ञा तथा मध्यमाधिकारियोंकेलिए आज्ञा दे दी है। अतएव यथाधिकार 'चरेद' के 'अनुज्ञा' और 'आज्ञा' दोनों ही अर्थ स्वीकारनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। “सूर्य अस्त हो रहा है” जैसे एक ही वाक्यके दो तात्पर्य:ब्राह्मणके सायंसन्ध्यार्थ उद्यत होनेके रूपमें; और गृहिणीके सायंकालके खाना पकानेको उद्यत होनेके रूपमें, अधिकारिभेदसे ले सकते हैं।

गोपालतापिनी उपनिषद्में—“भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराशयेनैव अमुष्मिन् मनःकल्पनम् एतदेव च नैष्कर्म्यम्” कह कर इसी भक्तिमार्गीय सन्न्यासका रूप 'नैष्कर्म्य' पदसे द्योतित किया गया है।

परिणामः

इस विरहानुभवार्थ परित्यागका परिणाम किन्तु अच्छा नहीं होता वार्ताप्रसङ्गमें इसके बारेमें एक मजेदार प्रश्न और उत्तर मिलते हैं:

प्रश्न: “तिहारे सेवक ऐसे दुबले क्यों?”

उत्तर: “बरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे हैं”

विरहानुभवार्थ जो परित्याग किया जाता है उसमें तदनुरूप भावनाओंको करनेपर एक दिन विरहवेदनाकी टीस मनमें उठी; अथवा भावनाका प्रवाह बहते हुए कहीं किसी भावके सागरमें पर्यवसित हुआ कि हृदयमें प्रेमका सागर लहराने लगेगा उसकी अनेक लहरें (चक्षूराग मनःसङ्ग सङ्कल्प निद्राच्छेद तनुता विषयनिवृत्ति त्रपानाश उन्माद मूर्छा और मरण) उठ कर आत्मा और देह के दोनों तटबन्धोंको तोड़ देंगी देह इन्द्रिय अन्तःकरण प्राण आत्मा सभी कुछ प्रेमके पूरसे प्लावित हो जायेंगे

यह प्रेमजन्य विकलता और अस्वास्थ्य भक्तिकी चरमप्रकृति या स्वभाव ही है। इसे लौकिक या प्राकृत अस्वास्थ्यकी तरह नहीं समझना चाहिये। यह तो परमानन्दरूप परमात्माका जीवात्माके साथ घनिष्ठ संस्पर्श हैं एक प्रेमाद्वैतसे सारे द्वैतोंके प्लावित होनेपर भी बचा हुआ प्रियतम और प्रेमी का भगवान् और भक्त का एक मधुर द्वैत है इसे ब्रह्मवादी शुद्धाद्वैतज्ञानकी; अथवा ब्रह्मके ज्ञानमार्गीय गुणों (यथा ब्रह्मके सर्वव्यापी होने, सर्वत्र विद्यमान होने, सर्वनिरपेक्ष आत्माराम होने, निराकार-व्यापक होने) की चर्चासे स्वयम् या अन्य कोई मिटा न दे इसकी सावधानी बरतनी चाहिये। क्योंकि यह ज्ञान तथा परमात्मा के ज्ञानमार्गीय गुण भक्तिमार्गीय भावके बाधक होते हैं।

ज्ञान-वैराग्य-सन्न्यास आदि विशेषताओंके कारण जैसे ज्ञानमार्गीय साधक सत्यलोकमें अवस्थित होता है, वैसे ही भक्तिमार्गीय जीव भावनाके बलपर व्यापिवैकुण्ठमें चलती भगवान्की नित्य ब्रजलीलाओंमें अवस्थित हो सकता है। अतः “परमात्मा व्यापक होनेसे मथुरा नहीं जा सकता वह तो सर्वत्र विद्यमान है” ऐसी ज्ञानमार्गीय बातोंसे भावखण्डन नहीं होने देना चाहिये।

स्नेहकी जो दस अवस्थायें चक्षूरागसे मरण पर्यन्त गिनायी, उनमें दसवीं अवस्था मरण तब तक सम्भव नहीं, जब तक विरहदशा सर्वथा असह्य नहीं हो जाती। गाढ़ अनुराग और वियोग के कारण आसक्तिभ्रमन्यायसे भक्तके अन्तरमें भगवान्की सारी लीलायें अनुभूत होती रहती हैं। कभी ये लीलायें बाहर भी प्रकट हो जाती हैं। एक बार बाहर प्रकट हुई कि फिर इनका अप्रकट होना भक्तकेलिए असह्य हो जाता है। वैसा यदि कभी हो जाये तो फिर भक्तकेलिए प्राणधारण अशक्य हो जाता है। काष्ठमें अग्नि तिरोहित रहती है। परन्तु एकबार यदि पूर्णतया प्रकट हुई तो वह बुझते-बुझते काष्ठको भी पूरी तरहसे जलाकर राख बना देती

है। इसी तरह स्थायिभावके रूपमें हमारे अन्तरमें छिपे हुए परमानन्दात्मक श्रीकृष्ण यदि आलम्बन विभावके रूपमें एक बार बाहर प्रकट हो कर तिरोहित हो जाये तो सारे देहादिके बन्धन टूट जाते हैं

इस स्थितिपर पहुंचनेसे पहले विप्रयोगमें भक्तके प्राणोंको भगवान्‌के गुण ही टिकाये रखते है। भगवान्‌के भक्तिमार्गीय गुणोंकी स्मृति अथवा कीर्तन में भक्तको जो पुनः-पुनः सन्तोष मिलता रहता है, उसीसे उसके प्राण अपने प्राणप्रिय प्रभुके सङ्गरहित होनेकी स्थितिमें भी टिके रहते हैं।

विप्रयोगानुभूतिकी इस प्रक्रियामें भगवान्‌के रसात्मक स्वरूपकी अनुभूति पूर्णतापर पहुंच जाती है। क्योंकि रसशास्त्रकारोंने रतिको द्विदलात्मक अर्थात् संयोग और वियोग रूप माना है। तदनुसार यह विरहानुभूति भी भगवान्‌के रसात्मक अनुभवका एक अङ्ग ही है। फलतः इस अनुभूतिकी अपूर्णतामें भगवान् प्रकट होकर स्वयम् भक्तकी फलप्राप्तिमें बाधा नहीं पहुंचाते हैं।

एक शङ्का यह उठ सकती है कि फिर उद्धवकेद्वारा स्वयम् भगवान्‌ने ज्ञानमार्गीय सन्देश गोपिकाओंको विरहवेदनासे स्वस्थ करनेकेलिए क्यों भेजा? इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌को यह पता था कि उद्धवके ज्ञानका रङ्ग गोपिकाओंपर नहीं चढ़ेगा प्रत्युत उद्धवपर ही गोपिकाओंके प्रेमका रङ्ग चढ़ जायेगा। अतएव भगवान्‌के सन्देश-स्वास्थ्यवाक्योंको गोपिकाओंने स्वीकारा नहीं।

इसी तरह उनके अनुकरणपर विरहानुभवार्थ परित्याग करनेवालोंको यदि किसी ज्ञानी अथवा मर्यादामार्गीय भक्तद्वारा भावखण्डनकी बातें सुनायी जा रही हों तो उन्हें अनसुनी कर देनी चाहिये। चाहे वे बातें वेदान्तादि शास्त्रोसे प्रामाणिक ही क्यों न हों।

इन शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी उपेक्षासे भगवान् नाराज हो जायेंगे ऐसे नहीं मान लेना चाहिये। क्योंकि वे दयालु है। अतः जैसे ज्ञानावेशमें शास्त्रीय मर्यादाके उल्लङ्घनका बुरा नहीं मानते वैसे ही भावावेशमें गोपिकाओंद्वारा की गयी भगवदुपदेशकी उपेक्षाका भी बुरा नहीं माना था।

६ प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके स्वभावसे प्रयुक्त भक्त्युत्तर सन्न्यासः

भक्तिमार्गीय मध्याधिकाररूप सन्न्यास, जिन गोपिकाओंकी लोक-वेदत्यागपूर्वक सर्वात्मभाववाली भक्तिकी भावना करते हुए किया जाता है, वह गोपिकाओंका परित्याग न तो आश्रमरूप है और न वैध ही। चतुर्थाश्रमरूप सन्न्यास केवल ब्राह्मण पुरुषकेलिए ही विहित है, अब्राह्मण या स्त्रियोंकेलिए नहीं। गोपिकाओंका त्याग अतएव किसी शास्त्रविधिसे प्रेरित न था किन्तु उनके चित्तकी भगवदेकतानतासे प्रयुक्त था। उनकी भगवदासक्तिके स्वभावका सहज अङ्ग था।

स्वयम् भगवान्‌ने उनके इस अनुरागमूलक परित्यागका वर्णन इन शब्दोंमें

किया है-“ताः मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे” वस्तुतः गोपिकाओंका त्याग केवल प्रेमभावसे विवश होकर किया गया त्याग था। त्यागका यह प्रकार बहुत दुर्लभ हैं

७. ज्ञानार्थ सन्यासः

पुष्टिमार्गीय जीवकेलिए ज्ञानार्थ सन्यास बहुत लाभकारी नहीं होता। ज्ञानार्थ सन्यास लेनेसे पहले पूर्वाश्रमके वेदाध्ययन, दान, यज्ञ आदि कर्तव्योंद्वारा चित्तको शुद्ध करना आवश्यक होता हैं। अन्यथा केवल त्याग या वैराग्य से चित्तशुद्धि कलियुगमें शक्य नहीं है। जो लोग इस तरहका विविदिषासन्यास कलियुगमें लेते हैं, या तो उन्हें बादमें पछताना पड़ता है और/अन्यथा वे सन्यासका पाषण्ड करनेमें दक्ष हो जाते हैं। अतएव मनुस्मृति (६।३४-३७) में कहा गया है कि “आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते, ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्, अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो ब्रजत्यधः, अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा सुतान् अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् ब्रजत्यधः”।

कुछ लोग कहते हैं कि यह अविरक्त विविदिषुकी निन्दा है, विरक्त विविदिषुकी नहीं। यहां विचारणीय यही है कि मोक्षेच्छासे सन्यास लेनेका निषेध किया जा रहा है और मोक्षेच्छा वैराग्यके अलावा और क्या हो सकती है? ऋणत्रयके अपाकरणके बिना चित्तशुद्धि सम्भव नहीं-अशुद्ध चित्तमें ज्ञान, वैराग्य स्थिर नहीं हो सकते-अतः ऐसोंकेद्वारा लिया गया सन्यास पश्चात्ताप अथवा पाषण्ड में ही पर्यवसित होता है।

यह बात सभी तरहके जीवोंपर लागू होती है, अतः पुष्टिमार्गीय जीवोंपर भी श्रीमहाप्रभु अतएव स्पष्ट निषेध करते हैं-“तस्माद् ज्ञाने न सन्न्यसेत्” ज्ञानप्राप्तिके निमित्त सन्यास नहीं लेना चाहिये*॥३॥

ज्ञानोत्तर सन्यासः

ज्ञानोत्तर सन्यास स्वभावप्राप्त होता है वैराग्य प्रकट होनेपर। अतएव एतदर्थ आज्ञा नहीं किन्तु अनुज्ञा उपनिषद् स्मृति पुराण आदिमें मिलती ही है। जाबालोपनिषद्में-“यदि वेतरथा।।। यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्” वचनमें यही ज्ञानोत्तर सन्यास विवक्षित है।

फिर भी पुष्टिमार्गीय जीवोंकेलिए इस प्रकारके ज्ञानोत्तर सन्यासकी, उसके फलकी तथा ज्ञानकी भी विशेष महत्ता नहीं है। अतएव भागवत् (१।५।१२) में आता है कि-“नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव

वर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्” गीता (१२।२-५) में भी ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासना तथा कृष्णभक्तिके तुलनात्मक महत्वका विचार करते हुए भगवान्ने ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासनासे कृष्णभक्तिको उपयुक्त माना है-मय्यावेश्य मनो ये

मां नित्ययुक्ता उपासते श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः, ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्, सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः, ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त

चेतसाम्, अव्यक्तता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते”।

हजारों वर्षोंतक ज्ञानमार्गपर यात्रा करनेके बाद कभी-कभी जीव श्रीकृष्णकी अनन्यभक्तिकी दिशाकी ओर मुड़ पाता है-“बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते, वासुदेवः सर्वमिति स माहात्मा सुदुर्लभः (गीता ७।१९) अतः कृष्णाभिमुख सुदुर्लभ महात्माओंको पुनः अधिक क्लेश देनेवाली अव्यक्तोपासनाके ज्ञानमार्गकी ओर ताकना ही नहीं चाहिये। अतएव कहा जाता है कि-“जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते” (पाण्डवगीता ४१)। अतएव ज्ञानोत्तर सन्न्यास लेनेवालेको सहस्रजन्मका अन्तराय कृष्णभक्तिके हेतु हो जाता है

भक्तिमार्गमें भी दोषसम्भावना और उसका निराकरणः

जैसे दोष कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गमें दिखलाये, यथा पाषण्ड या विषयासक्ति आदि, वे भक्तिमार्गमें भी सम्भव है

यह आशंका अनुचित हैं क्योंकि दोषोत्पत्ति तीन तरहसे सम्भव है १.कालके प्रभावसे २.जीवात्माके स्वभावसे ३.परमात्माकी इच्छासे।

१.कलियुगका प्रभाव भक्तिमार्गपर नहीं पड़ता है-“पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान्पुरुषोत्तमः, विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-

१ अतएव मुण्डकोपनिषद्में-“अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः” आदिमें गृहस्थाश्रम आदिके कर्मोंकी निन्दा करके भी विरक्तोंकेलिए उपदेश्य वेदान्तज्ञानके अध्यापन तथा अध्ययन का अधिकार पुनः इन्हींका ही मान्य किया है-“क्रियावन्तः श्रोत्रियाः ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वतः एकर्षि श्रद्धयन्तः तेषामेवैतां ब्रह्माविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णं, नैतदचीर्णव्रतोधीते”।

तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः नात्यन्तशुद्धिं लभतेन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते” (भाग। १२।३।४५-४८)

स्वयम् भगवान् भी गीता (९।३०-३१)में कहते हैं-“अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि स, क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति, कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति” अतएव उद्धवोपदेशमें भी भगवान्ने कहा है-“बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः, प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते” (भाग-११।१४।१२)।

अतः न भक्तिके प्रारम्भमें और न उसकी प्रगल्भतामें कलिकाल अथवा

विषयासक्ति भक्तिमार्गमें दोष उत्पन्न कर सकते हैं। पुराणोंमें भी तपस्वी आदिकी तरह भक्तके भटक जानेके कोई दृष्टान्त दिये न ही गये है।

२. जीवात्माके स्वभावसे दोषोत्पत्तिकी जहां तक सम्भावना थी तो उस अवस्था तक तो भक्तिमार्गमें भी त्याग न करनेकी बात समझायी ही गयी है। भक्तिकी व्यसनदशाके एकवार विकसित होनेपर यदि गृहत्याग किया जाता है तो भटक जानेका कोई भी भय नहीं रहता। क्योंकि जैसे-जैसे भक्तिका बीजभाव दृढ़ होने लगेगा वैसे-वैसे लौकिक तथा वैदिक दृष्टिसे भक्त अस्वस्थ होने लगेगा-“लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्” (नवरत्न ६) यह पहले कहा जा चुका है। ऐसे अस्वस्थ भक्तोंमें, लौकिक अथवा वैदिक दृष्टिसे पुनः स्वस्थ बनानेवाले लौकिक कर्म या वैदिक कर्मोंका त्याग एकबार कर देनेपर, जीवके स्वभाववश भी भगवद्भावमें बाधा उपस्थित होनेकी सम्भावना नहीं रह जाती है।

३. गोपिकाओंको ज्ञानोपदेशद्वारा स्वयम् भगवान्ने विरहव्याधिसे उबारना चाहा था। उद्धवजीको इसी हेतुसे ब्रज भेजा गया था। अतः इस अवस्थामें स्वयम् भगवान् बाधा पहुंचा सकते हैं पर ऐसी आशङ्काका निराकरण पहले ही कर दिया गया है कि भगवान्को पता था कि उद्धवके ज्ञानोपदेशसे ब्रजभक्तोंके भावखण्डन होनेके बजाय स्वयम् उद्धवका ज्ञानाभिमान खण्डित हो जायेगा। अतः इस विरहव्याकुलताकी भावतन्मयतामें परमात्मा बाधा पहुंचाता है ऐसा नहीं मानना चाहिये।

भक्तिके बीजभावको आत्मामें रोपित कर-सत्सङ्गादिके अवसरद्वारा उसे सिञ्चित कर-प्रेमात्मना अङ्कुरित कर-आसक्तिके रूपमें पल्लवित कर-व्यसनके रूपमें जब फल परिपक्व होने जा रहा हो तब इस भक्त-मनोरथपूरक भक्तिके कल्पद्रुमको काट देना

स्वयम् हरिके भी बसकी बात नहीं है फिर काल-कर्म-स्वभावको तो क्या बिसात?

अपने स्तनका दूध पिला-पिलाकर जिस बच्चेको पाल-पोसकर बड़ा किया हो उसे कौन मां खतम होने देगी

अतः ज्ञानियोंके वाक्यसे भगवान् भक्तोंमें मोह उत्पन्न करते हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि भागवत् (४।३१।१२-१३) में-“किंवा योगेन साङ्ख्येन न्यासस्वाध्यायोरपि, किंवा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः, सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः” अर्थात् योग साङ्ख्य सन्यास स्वाध्याय या अन्य भी सारे श्रेयःसाधनोंको करनेसे कोई लाभ नहीं, जिनके करनेपर भी हरि आत्मप्रद नहीं होते हों। क्योंकि सारे श्रेयकी अवधि आत्मा होती है और प्राणियोंकेलिए हरि आत्मरूप आत्मप्रद तथा प्रिय हैं। ऐसी स्थितिमें

सर्वदा भक्तपराधीनः रहनेवाले प्रभु-“अहं भक्तपराधीनः ह्यस्वतन्त्र इव द्विजः॥।।
नाहमात्मानमाशासे मदभक्तैः साधुभिर्विना” (भाग। ९।४।६३-६४), अपने भक्तोंको
न तो स्वयम् मोहित करेंगे और न ज्ञानियोंके वचनसे मोहित होने देंगे।

अतः बीजभावके दृढ़ होनेपर-भक्तिकी व्यसनदशामें-स्वगृहमें भगवत्सेवा
जो न निभ पाती हो-तो ऐसी स्थितिमें गृहका परित्याग कर देना चाहिये। अन्यथा
ऐसे घरमें रहनेसे कभी भावका उपशमन भी हो सकता है। भक्त अपने स्वार्थ-
अपने प्रभुके रसात्मक अनुभवके लाभ-से वञ्चित हो सकता है। यह श्रीमहाप्रभुका
दृढतर अभिप्राय है।

उपसंहारः

इस तरह श्रीकृष्णके प्रसादसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा किया गया
सन्न्यासनिर्णय कि वह भक्तिके दृढ़ होनेपर ही लिया जा सकता है-अन्यथा
ज्ञानमार्गीय या कर्ममार्गीय रीतिसे पुष्टिमार्गमें सन्न्यास लेना, पुष्टिसोपानोंपर आरोहण
करते हुए अधःपतित होनेका कारण बनेगा, पूर्ण हुआ।

प्रस्तुत संस्करण वि। सं। १९७४ में प्रकाशित संस्करणका ओफसेट प्रोसेसद्वारा
पुनर्मुद्रित रूप है। उस संस्करणके सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला
तथा श्रीधीरजलाल ब्रजदास सांकलिया। पोरबन्दरके गोस्वामी १०००८
श्रीजीवनलालजी महाराजके आर्थिक सहयोगसे वह संस्करण प्रकाशित हुआ था।
इन सभी महानुभावका हम इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ
स्मरण करते हैं।

लालूभट्टकृतसन्यासनिर्णयशङ्कानिरासः।

हरित्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।

अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥

हरिः अत्र विरहानुभवे बाधां प्रतिबन्धं कर्तुं न शक्नोति, न समर्थो भवति। अपरे कालादयः कुतः करिष्यन्तीत्यर्थः। ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवतोसामर्थ्यकथनं सर्वशास्त्रविरुद्धमित्याशङ्कां परिहरन्तो न भगवतः शक्तिन्यूनताप्रयुक्तमसामर्थ्यमपि तु भक्तवात्सल्यकृतमिति दृष्टान्तेनाहुः— अन्यथेत्यादिना। मातरः बालान् स्तन्यैरेव पुपुषुः। अन्यथा अन्यप्रकारेण न पुपुषुरित्यर्थः। यथा पुत्रवात्सल्यवशीभूताः सर्वा मातरो बालानां स्तनदानेनैव पोषणं हितरूपं चक्रुः, अन्यथा प्रकारान्तरेण न चक्रुः, एवं ब्रह्मसृष्टिमारभ्य व्यवस्थितं, तथा भगवानपि भक्तवात्सल्यपरवशो भक्तस्य परमेष्टरूपं विरहानुभवं साधयति, नास्मिन्विरहानुभवे प्रतिबन्धं करोतीति भावः। केचित्त्वत्र बालान् न स्तन्यैः पुष्येयुरिति वक्तुमुचितं, न तु लिट्प्रयोग उचित इत्याहुः। तन्न। पूर्वोक्तरीत्या ग्रन्थलापने लिट्प्रयोगस्य निरवद्यत्वात्।

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

संन्यासनिर्णयः।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥
कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥
श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यत्वेन नेष्यते।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात्॥३॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥४॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।
स्वयं च विषयाक्रान्तपाषण्डी स्यात्तु कालतः॥५॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥
विरहानुभवार्थन्तु परित्यागः प्रशस्यते।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते॥८॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्न्यासेन विशेषितात्।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि॥११॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।
गुणास्तु सङ्गरहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि॥१२॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥
ज्ञानमार्गे तु सन्न्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥



ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥
अतः कलौ स सन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्न्यसेत्॥१६॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्।
भक्तिमार्गोपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥
इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।
सन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितः संन्यासनिर्णयः समाप्तः ।



॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

संन्यासनिर्णयः।

श्रीमद्रोकुलनाथविरचितविवरणसमेतः।

नमामि तातचरणान् स्वीयानां सर्वकामदान्।

यैः कृतः स्वाभिधानार्थः प्रकटः कृपया मयि॥१॥

स्वमार्गीयपरित्यागं वक्तुं परित्यागविचारं प्रतिजानते, तद्धेतुमाहुः
पश्चात्तापनिवृत्यर्थमिति।

पश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यते।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥

१भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचारा
भावजनितस्वपश्चात्तापनिवृत्यर्थं भक्तिमार्गीयपरित्यागविचारमारभन्ते
पश्चात्तापनिवृत्यर्थमिति। उक्तपश्चात्तापनिवृत्यर्थं यः परित्यागः स विचार्यते,
न तु विधीयते, विधाने विधिशेषत्वमापद्येतेति सर्वकर्तृकत्वमापद्येत, अत उक्तं
विचार्यते। स्वरूपतः साधनतः फलतश्च तस्य विचारे परित्यागसामान्यादन्यमार्गीयस्य
स्वविचार्यमाणस्य च तारतम्यज्ञापनार्थमन्यमार्गीयमप्याहुः स मार्गद्वितये इति।
मार्गद्वयमेवाहुः भक्तौ मर्यादापुष्टिभेदभिन्नभक्तिमार्गे। मर्यादाभक्तौ श्रीमदुद्धवपृष्ठेन
भगवता “मदर्थेपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च। इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्
व्रतं तपः” इति त्यागो विशेषतः प्रोक्तः। पुष्टिभक्तिमार्गे रासमण्डलमण्डनाभिरपि
“सन्त्यज्य सर्वविषया” निति। तल्लीलायामेव चतुर्थाध्याये ताः प्रत्येव “एवं
मदर्थोज्झते”त्यत्र विशेषतस्त्यागः प्रोक्तः। (ननूभयत्राप्यविशेषेण
त्यागकथनादुभयोस्त्यागयोः साम्यमस्तीति चेत्, अत्र वदामः। यद्यपि
मर्यादाभक्तिपरित्यागकथनेपि ‘मदर्थेपरित्याग’ इति वाक्ये स्वप्राप्त्यर्थं परित्याग
उक्तः, तद्वदेव फलप्रकरणचतुर्थाध्याये शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे “एवं
मदर्थोज्झतलोकवेदस्वाना”

१ पश्चात्तापस्वरूपमाहुः भक्तीति। भक्तिमार्गे च पदार्थपरित्यागादितरसर्वपदार्थानां
परित्याग इत्यर्थः। तथा च लौकिकपदार्थपरित्यागो विचार्यत इति निष्कर्षः। २
नन्वित्यारभ्य वेदितव्येत्यन्तं विवरणं नोपलभ्यते कुत्रचित्।

मित्युक्तं, तथापि मर्यादाभक्तिमार्गे त्यागस्य मदर्थित्वं यदुक्तं, तत्स्वप्राप्त्यभिप्रायेण, न तु स्वाभिलषितसिद्धययभिप्रायेण, तन्मार्गे तस्यासम्भावितत्वात्, पुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे “एवं मदर्थोज्झतलोकवेदस्वाना”मिति लोकवेदस्वपरित्याग उक्तः। तत्र यद्यपि स्वपदेन ज्ञात्यर्थात्मान उच्यते, तत्रैतासां ज्ञात्यर्थपरित्यागस्य ब्रज एव स्थित्याऽसम्भावितत्वात् स्वपदस्यात्मपर्यवसायित्वमेव सम्भवति। यद्यपि विद्यमाननित्यदेहानामात्मत्यागोऽसम्भावितः, तथाप्यात्मत्यागोक्तेरयमाशयः। यथा श्रुतौ “आत्मने वै कामाय सर्वं प्रियं भवती”ति। यत्र प्रियत्वं तत्रात्मौपाधिकमेव, न तु प्रकारान्तरेण। एतासां यदात्मनि प्रियत्वं तन्न स्वात्मत्वेन, किन्तु स्वात्मनो भगवतः प्रीतिजनकहेतुत्वेन। अत एव भगवदमिलनदशायामात्मनोऽनुपयोगं ज्ञात्वा न मण्डनादिपुरस्कारस्तासाम्, उपयोगसमय एवात्मपुरस्कार इति नात्मनः स्वभावतः प्रियत्वम्, किन्तु भगवदुपयोगित्वेनेत्ययमेवात्मनस्त्याग इति शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागस्य मर्यादामार्गीयत्यागस्य च महदेव वैलक्षण्यमित्युभयत्रापि त्यागपदोपादानादुभयोः साम्यमस्त्वित्याशङ्का निरस्ता वेदितव्या।) ज्ञाने ज्ञानमार्गेऽपि विशेषतः प्रोक्तः। स च विशेषो “यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे”दिति श्रुत्या विविदिषाविद्वद्भेदाभ्यां च तच्छास्त्रे निरूपित इति विशेषत इत्युक्तम्॥१॥

कर्ममार्गस्यापि मार्गान्तःपातात् तत्रापि परित्यागप्राप्तिमाशङ्क्यय निषेधन्ति कर्ममार्गे न कर्तव्य इति।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥

तत्र “यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती”ति विधिना सन्यासग्रहणस्यानवसरपराहतत्वात्। यद्यप्यायुषश्चतुर्थो भागश्चतुर्थाश्रमेण नेय इति कुत्रचिदुक्तं तत्रापि निषेधमाहुः सुतरामिति। अस्यायमर्थः। कलिदोषेण मनुष्याणामल्पसामर्थ्यवत्त्वादायुषश्चतुर्थभागस्यातिजराव्याप्तत्वादाश्रमधर्मस्य चातिकष्टसाध्यत्वेनानिर्वाहाद्विपरीतफलसाधकत्वं भवेदिति सुतरां कलिकालत इत्युक्तम्। एवं ज्ञानमार्गे परित्यागस्य कर्तव्यत्वं निरूप्य तस्यैव कर्ममार्गे सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वं च निरूप्य भक्तिमार्गे तस्य कर्तव्यप्रकारविचारमारभन्ते अत इति। यतः प्रकारभेदेन पूर्वं मार्गद्वयेऽपि कर्तव्याकर्तव्यभेदेन परित्यागो यद्यपि निर्दिष्टस्तथापि विचारारम्भे पूर्वं भक्तिमार्गस्योद्दिष्टत्वादतः कारणादादौ प्रथमतः भक्तिमार्गीयपरित्यागस्य प्राप्तत्वात्तस्य विचारणाः विचारः क्रियत इत्यर्थः। विचारणा च कदा कर्तव्यः, कथं कर्तव्यः, किमर्थं कर्तव्य इति॥२॥

भक्तिमार्गे श्रणादिसाधनसिद्धयर्थं कर्तव्यपक्षं निराकुर्वन्ति श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थमिति।

१ पुष्टीति पाठः। २ मर्यादापुष्टिमार्गीयत्यागस्येति पाठः।

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यत्वेन नेष्यते।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात्॥३॥

श्रवणादीत्यारभ्य नेष्यत इत्यन्तेन। स परित्यागो नेष्यते, इच्छाविषयत्वेनापि नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः। अनङ्गीकारे हेतुमाहुः सहायेति। “एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बर” इत्यादिवाक्यैस्त्यागिन एकाकित्वेनैव स्थितेरुचितत्वाच्छ्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात् सहायाः प्रेरकास्तेषां स्वस्वमतानुसारिश्रवणप्रेरकत्वात्तत्तन्मार्गीयश्रवणानां पुष्टिभक्तिमार्गविरोधित्वान्न भक्तिमार्गसाधकत्वम्। तद्यथा। मायावादिनां श्रुतीनामपि कल्पितत्वात्तत्प्रतिपाद्यब्रह्मधर्माणामपि व्यवहारोपयोगित्वेनापारमार्थिकत्वाद्ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम्। नैयायिकमते तु “श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः” इति जगत्कर्तृकत्वेनेश्वरसिद्धावपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नातिरिक्तधर्माभावाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम्। मीमांसकानां निरीश्वरवादित्वादेव श्रोतव्याभावान्न श्रवणार्थिप्रेरणम्, तत्तन्मार्गीयप्रेरकप्रवृत्तौ तत्तन्मार्गीयैरेव सङ्गात्तन्मार्गीयश्रवणस्यैव सिद्धेस्तच्छ्रवणस्य भक्तिमार्गविरोधित्वान्न भक्तिमार्गसाधकत्वम्। बाधकान्तराण्यप्याहुः साधनानां च रक्षणादिति। साधनानामाश्रमसाधकधर्माणां स्नानशौचप्रणवजपादीनां रक्षणं यथोक्तप्रकारानुष्ठानम्। तेनैव सर्वकालव्याप्त्या न भक्तिमार्गीयश्रवणादिप्रवृत्त्यवसर इत्यनङ्गीकारः॥३॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥४॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।

स्वयं च विषयाक्रान्तपाषण्डी स्यात्तु कालतः॥५॥

किञ्च, अभिमानात् सर्वादरणीयत्वेन स्वस्मिन्नाश्रमज्येष्ठत्वाभिमानात्तस्य च भक्तिसाधनविरोधित्वात्तथा। किञ्च, नियोगादुक्तपरित्यागस्य शास्त्राज्ञाधीनत्वाद्बक्ष्यमाणस्य च तदनधीनत्वात्तथा। किञ्च, तद्धर्मैश्च विरोधतः। तद्धर्मैर्वक्ष्यमाणभक्तिमार्गीयपरित्यागधर्मैः, चकारात्स्वरूपेण च विरोधात्तथा। ननु श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं त्यागकर्तुर्भक्तिमार्गीयश्रवणाद्यज्ञानात्तत्तज्ज्ञानहेतुकत्यागस्य तदङ्गत्वेन गौणत्वात्तस्याकर्तव्यत्वमस्तु। भक्तिमार्गीयश्रवणादिस्वरूपज्ञानवतः गृहस्थितौ व्यासङ्गेन तदनिर्वाहं ज्ञात्वा तत्परित्यागस्य मुख्यत्वमस्त्वित्यपि पक्षस्य वक्ष्यमाणत्यागवैजात्यात् सहेतुकमकर्तव्यत्वमाहुः गृहादेरिति। उक्तपरित्यागानन्तरमपि साधनदशायां भक्तिमार्गीयपूर्णभगवद्भावाभावान्निरन्तरनिर्वाहस्याशक्यत्वेन चित्तचाञ्चल्यादेतन्मार्गविजातीयैरेव सङ्गो भवति, नान्यथा। अतादृशैः सङ्गो न भवतीत्यत उक्तमग्रेपीति। विजातीयानां च विषयाक्रान्तचित्तत्वात्तत्सङ्गस्याल्पस्यापि पूर्वभावनिर्वाहनाशकत्वेन स्वस्यापि विषयाक्रान्तिसम्भवात् कालक्रमेण

पूर्वभावनिर्वाहाभावात् कृतस्यापि त्यागस्य मुख्यफलासाधकत्वाद्भक्तिमार्गविचारे पाषण्डित्वमेवेत्यत उक्तं स्वयं चेति। विषयाक्रान्तपाषण्डीत्यत्र कर्मधारयः। तुशब्देनापाषण्डित्वपक्षनिरासः॥४॥५॥

यद्यपि दुःसङ्गो भावस्थितौ बाधकस्तथापि भावस्थित्यर्थमेपक्रमाद् दुःसङ्गेऽपि कदाचिद्भावस्तिष्ठेदिति पक्षनिराकरणमाहुः विषयाक्रान्तदेहानामिति।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥

विषयाश्चक्षुरादिसर्वेन्द्रियविषयाः रूपरसादयस्तैराक्रान्तः व्याप्तः देहोयेषां तेषां सर्वदा हरेरावेशो न भवति। यत एते प्रकारा बाधका अतः अत्र साधने भक्तौ साधनरूपभक्तिमार्गे भक्तिसाधनार्थं त्यागः सुखावहो न पुरुषार्थसाधको न भवतीत्यर्थः। एवकारेण सर्वात्मना पुरुषार्थासाधकत्वमुक्तम्॥६॥

तर्हि भक्तिमार्गे त्यागकथनस्य प्रयोजनाभावाद्वैयर्थ्यमायातीति चेत्तत्र प्रयोजनमाहुः विरहानुभवार्थमिति।

विरहानुभवार्थन्तु परित्यागः प्रशस्यते।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥

ननु विरहस्य संयोगपूर्वकत्वात् साम्प्रतं तस्याभावात् कथं विरह इति चेत्, सत्यम् वक्ष्यमाणपरित्यागस्य पूर्णपुष्टिमार्गीय भगवद्भावानन्तरभावित्वेन तत्पूर्वदशायां भगवत्स्वरूपसेवनस्यावश्यकत्वात्तत्र भावपूर्वक श्रीमुखदर्शनतत्तदङ्गस्पर्शजनित सङ्गाभिलाषाया अतिप्रचुरत्वेन तच्छान्त्यभावजन्यत्वात् सङ्गमपूर्वकत्वं विरहस्य भगवद्विरहस्यानुभवः निरन्तरं तद्भावापत्तिस्तदर्थं तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः। तेन शुद्धपुष्टि मार्गीयपूर्ण भाववानधिकारीति ज्ञापितम्। तादृशस्य सर्वात्मभाववद्भक्तसम्बन्धिरासादिलीलाविचारस्यावश्यकत्वेन तस्याश्च परमफलत्वेन स्वस्यापि तन्मार्गीयत्वेन तत्फलोत्कटाभिलाषया साम्प्रतं तत्पूर्त्यभावात्तत्पूर्वकस्याधुना दर्शनाद्यभावाद्विरहस्यावश्यकत्वम्। गृहस्थितौ गृहस्थितानां तद्भाववैजात्यात् तत्सङ्गस्यैतद्भावनाशकत्वेन तदनुभवाभावाद्गृहत्यागस्यावश्यकत्वम्, तस्य परित्यागज्ञापनार्थं वेषकल्पनमाहुः स्वयेति। स्वीयाः भार्यापुत्रादयस्तत्कृतो बन्धः, त्यागे प्रतिबन्धः, तन्निवृत्त्यर्थं वेषकल्पनम्। स वेषः अत्र अस्मिन्मार्गे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमेव। न चान्यथा, अन्यप्रयोजनार्थं न भवतीत्यर्थः। यथा मर्यादामार्गीयचतुर्थाश्रमपरिग्रहहेतुत्वेनावश्यकत्वाय वेषकल्पनं तथास्मिन्मार्गे न भवतीत्यर्थः॥७॥

मार्गद्वये परित्यागाविशेषेऽपि मार्गभेदनिरूपणार्थं परित्यागनिमित्तं वेषकल्पननिमित्तं चोक्त्वा गुरुन् साधनं च निरूपयन्ति कौण्डिन्यो गोपिका इति।

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते॥८॥

कौण्डिन्य ऋषिः अनन्तव्रतप्रस्तावे निरूपितः। गोपिकाः प्रसिद्धा इति न प्रकारविशेषोक्तिः। यद्यपि कौण्डिन्यस्य मर्यादामार्गीयत्वे नैतन्मागाज्ञानादेतन्मार्गोपदेष्टृत्वासम्भवादुरुत्वं न सम्भवति, तथापि दत्तात्रेयवत्स्ववैराग्यापयोगितत्तद्धर्मशिक्षणेनोपदेष्टृत्वाभावेपि पृथ्व्यादिषु यथा गुरुत्वाङ्गीकारस्तथा कौण्डिन्यस्याप्यनन्तगुणश्रवणेन तन्मिलनार्तिजनितविप्रयोगभावजनितवैकल्येन च प्रश्नायोग्येष्वपि प्रश्नकरणात्सहसा तत्यागस्यैतन्मार्गीयत्यागस्य चैतावद्धर्मसाम्यात्कौण्डिन्येपि गुरुत्वकथनम्। गोपिकानामप्युपदेष्टृत्वाभावेपि तन्मार्गप्रकटनेन तद्भावानुरूपाचरणेन च 'दुहन्त्य' इत्यनेन विरहेण गृहत्यागेनापि गुरुत्वम्। गुरुनुक्त्वा साधनमाहुः साधनमिति। यदग्रे वक्ष्यमाणं तत्साधनमित्यर्थः। तदेवाहुः भाव इति। स्वस्मिन् गोपिकाभावानुरूपभावनया सिद्धभावस्य साधनत्वमिष्टम्, अन्यद् दानव्रतादिकमपि साधनत्वेन नेष्टमित्यर्थः॥८॥

नन्वेतद्भावापत्यनन्तरभाव्यवस्थाया बुद्धिविपर्यासहेतुत्वेन दुःखहेतुत्वेन च प्राकृतत्वमित्याशङ्कां तद्भावस्वरूपनिरूपणेन परिहरन्ति विकलत्वमित्यादिना।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥

विकलत्वं वैकल्यं तथा तद्वदेव अस्वास्थ्यं कुत्रापि स्वास्थ्याभावः प्रकृतिर्विप्रयोगभावस्य प्रकृतिः स्वाभाविको धर्मः प्राकृतं लौकिकं न भवतीत्यर्थः। हि युक्तश्चायमर्थः। यत्रैकादशे श्रीमदुद्धवपृष्ठेन भगवता श्रद्धानिरूपणप्रस्तावे आध्यात्मिकश्रद्धादीनां सगुणत्वं निरूप्य "सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणे"ति स्वपूजाश्रद्धाया निर्गुणत्वं निरूपितं, ज्ञाननिरूपणप्रस्तावेपि कैवल्यादिज्ञानानां सगुणत्वं निरूप्य "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्। प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमिति स्वविषयकज्ञानस्य निर्गुणत्वं निरूपितम्। यत्र मर्यादामार्गेपि स्वसम्बन्धित्वेन वस्तुनो निर्गुणत्वं, तत्र साक्षात्सर्वाधिकभक्तिमार्गीय भगवद्भावजधर्माणां निर्गुणत्वे किं वाच्यमिति हिशब्देनोक्तम्। ननु भगवत्सम्बन्धित्वेनालौकिकत्वान्निर्गुणत्वमस्तु, तथापि दुःखात्मकत्वात् कथं सर्वोत्कृष्टत्वमिति चेत्, सत्यं, दुःखत्वाभावादेवोत्कृष्टत्वं वदामः। तद्यथा पुरुषोत्तमस्वरूपस्य 'रसो वै स'इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन प्रतिपादितत्वाद्रसस्य च संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन द्विरूपत्वाद्यथा विरोधिकृतक्षतनिष्पीडनताडनकोपादीनां दुःखात्मकत्वं, तथा क्षतत्वादिधर्मसाजात्येपि संयोगरसान्तः पातित्वेन परमानन्दरूपत्वं तथा विप्रयोगरसजनितवैकल्य्यादीनामपि विप्रयोगरसात्मकत्वेन कर्मादिजन्यवैकल्यवत्प्रतीयमानत्वेपि रसरूपत्वान्न तेषां दुःखत्वम्। यथा आनन्दादप्यश्रूणि, शोकादप्यश्रूणि, न हि तत्राश्रुत्वसाजात्यादुभयोरेकफलत्वं सेत्स्यति, तथात्रापि तत्तद्धर्मसाम्येपि न तत्तद्रूपत्वमिति सर्वमनवद्यम्।

१ लौकिको भावो न भवतीत्यर्थः।

एतादृगवस्थापत्यनन्तरमपि व्यावहारिकज्ञानलौकिकविवेकादिगुणसत्त्वेऽपि को विरोध इति चेत्तत्राहुः **ज्ञानमिति। ज्ञानं मर्यादामार्गीयं गुणास्तन्मार्गीया एव मनःस्वास्थ्यहेतुरूपाः। तस्य पूर्वोक्तभक्तिमार्गीयभाववतः एवं वर्तमानस्य पूर्वोक्तवैकल्यव्यादिभावापूत्यैव स्थितस्य, बाधकाः रसानुभवे फले वा पूर्वोक्तभावनाशकत्वात्प्रतिबन्धकाः॥९॥**

ननु मार्गद्वयेऽपि त्यागस्याविशेषात्कथं ज्ञानमनःस्वास्थ्यदीनां ज्ञानमार्गे साधकत्वं भक्तिमार्गे बाधकत्वमिति शङ्कानिरासाय फलभेदेन समाधानमाहुः **सत्यलोक इति।**

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्यासेन विशेषितात्।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥

सत्यलोके ब्रह्मलोके 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति श्रुतौ ज्ञानयुक्तसन्यासिन एव ब्रह्मलोकस्थित्यनन्तरमेव ब्रह्मणा सह मोक्षनिरूपणाद्ब्रह्मलोकगतौ ज्ञानस्यैव मुख्यत्वान्मनःस्वास्थ्यव्यतिरेकेण ज्ञानस्थैर्याभावाज्ज्ञानमनःस्वास्थ्यदीनामेव फलसाधकत्वम्। भक्तिमार्गे साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धस्यैव फलत्वात्तस्य 'रसो वै स' इति श्रुत्या रसात्मकत्वात् रसस्य च भावात्मकत्वात्तत्सम्बन्धे पूर्वोक्तविप्रयोगरसात्मकभावस्यैव साधनत्वात् ज्ञानमनःस्वास्थ्यदीनां तद्भावरूपसाधननाशकत्वाद्बाधकत्वमित्यत आहुः **भावनेति। यत्र भक्तिमार्गे॥१०॥**

एवं मार्गद्वयेऽपि प्रकारभेदेन साधनफले निरूप्य ज्ञानमार्गे फलप्राप्तौ विलम्बहेतुं भक्तिमार्गे विलम्बाभावहेतुं च ज्ञानमार्गे प्रकारकथनेन भक्तिमार्गे दृष्टान्तकथनेन चाहुः **तादृशा इति।**

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि॥११॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।

तादृशाः सन्यासयुक्तज्ञानिनस्ते सकामनिष्कामभेदेन **सत्यलौकादौ** ब्रह्मलोकादौ तिष्ठन्त्येव। सन्यासाश्रमग्रहणमात्रेणैव सत्यलोकस्थितिपक्षनिराकरणार्थं न संशय इत्युक्तम्। **सत्यलोकादावित्यत्र** तदुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। तेन निष्कामानामेव सत्यलोकस्थितिः, सकामानां लोकान्तरेऽपि स्थितिरिति ज्ञापितम्। एवकारेण सत्यलोकस्थितौ मुक्तिविलम्बे च हेतुरुक्तः। तत्रोपपत्तिः। "ब्रह्मा सह मुच्यन्त" इति वाक्याद्ब्रह्मणः द्विपरार्धावसायित्वात्तावत्पर्यन्तं मुक्तेरसम्भवात्स्थितेरावश्यकत्वज्ञापनार्थमेवकारः। ज्ञानमार्गे विलम्बहेतुं निरूप्य भक्तिमार्गे दृष्टान्तेन विलम्बाभावहेतुं निरूपयन्ति। तत्र दृष्टान्तमेवाहुः **बहिरिति। वह्निवदिति** कथनाद्दारुस्थितवह्निदृष्टान्तोभिप्रेतः। तत्र प्रकारः। यथा दारुणि विद्यमानस्य वह्नेर्दारुसंयोगे सत्यपि

१सर्वमवदातमिति पाठः। २लौकिकमिति पाठः। ३सत्यज्ञानयुक्ता इति पाठः।

न दारुदहनयोग्यत्वं, यदा मथनेन तत एव बहिः प्रकटीभूय पुनस्तेन सह सम्बध्यते, तदा सम्बन्धमात्रेणैव दारुत्वनिवृत्त्या दारुणोग्नित्वसिद्धिस्तथा भक्तहृदये विद्यमानत्वेऽपि मथनेनाग्निप्राकट्यवद्विगाढभावेन भावात्मकतया बहिःप्राकट्ये सति पुनरन्तःसम्बन्धः, तदा सम्बन्ध एव फलसम्बन्धहेतुः प्रतिबन्धं दूरीकरोतीति फलस्य रसात्मकत्वेन तदनुभवहेतुरसात्मकतां सम्पादयतीति एतत्प्रकारातिरिक्तस्यैतत्फलसाधकत्वाभावार्थमुक्तं न चान्यथेति। एवमस्मिन्मार्गे विलम्बाभावोऽपि सिद्धः॥१११/२॥

ननु पूर्वोक्तविगाढभावस्य साक्षात्सङ्गाभावहेतुत्वेन सङ्गार्थस्वरूपानुसन्धानस्यावश्यकत्ववदुणानुसन्धानस्याप्यावश्यकत्वेन साक्षात्स्वरूपेण स्वास्थ्यहेतोरसम्भावितत्वादुणैरेव कथं स्वास्थ्यमिति चेत्तत्राहुः गुणास्त्विति।

गुणास्तु सङ्गरहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि॥१२॥

गुणानां धर्मरूपत्वाद्विप्रयोगस्य संयोगाभावहेतुत्वेन तदतिरिक्तस्य स्वास्थ्यहेतोरभावात्कदाचिदतितापेनाश्रयाभावाज्जीवनानुपपत्त्या गुणैरेव जीवनसम्पत्तिरित्यत उक्तं **जीवनार्थं भवन्तीति**। यथा 'तव कथामृत'मित्यत्र। हि युक्तश्चायमर्थः। परमानन्दविरहे जीवनानुपपत्तौ परमानन्दगुणानामेव जीवनसम्पादकत्वमुचितमित्यर्थो हिशब्देन द्योत्यते। तेन गुणानां यथाकथञ्चिज्जीवनमात्रसम्पादकत्वं, न तु स्वास्थ्यहेतुत्वमपि। तुशब्देन सङ्गातिरिक्तधर्मैः स्वास्थ्यपक्षो व्यावर्तितः। अथवा ननु भगवद्विप्रयोगस्यातिप्रचुरतापात्मकत्वेनासह्यत्वात्क्षणमात्रमपि प्राणस्थित्यसम्भवस्वभाववत्वात् कुत्रचित्तत्कालमेव प्राणस्थित्यदर्शनम् यथा द्विजपत्न्याम्। क्वचित्तथात्वेऽपि प्राणस्थितिदर्शनमिति कथमेकस्यैव स्वभावविपर्यासेन कार्यद्वयकर्तृत्वमिति चेत्, सत्यम्, तस्य स्वभावविपर्यासाभाववत्वेऽपि यत्र शीघ्रं मनसो भगवदुणग्रहणेन व्यासङ्गाभावस्तत्र शीघ्रं पूर्वोक्तस्वकार्यकर्तृत्वम्। यत्र भगवदिच्छया शीघ्रं तदुणव्यासङ्गस्तत्र गुणानां तादृग्भावेऽपि जीवनैकस्वभावत्वेन तत्स्वभावत्वादेव प्राणस्थितिरित्यभिप्रेत्योक्तं **गुणास्त्विति**। ननु लोके गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यवत्त्वदर्शनात् कथं पूर्णानन्दरसात्मकपुरुषोत्तमविरहस्य क्षणमात्रमपि प्राणस्थितिविलम्बासहिष्णोस्तस्मिन्समये तदुणानां कथं प्राणस्थितिहेतुत्वमिति चेत्, सत्यम्। यद्यप्यन्यत्र गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यमस्त्वेव, तथाप्यत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस्याचिन्त्यानन्दपूर्णस्य षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नस्य गुणा अपि तादृशा एवेति मन्तव्यम्, गुणगुणिनोरेकरूपत्वात्, अन्यथा तद्विप्रयोगदशायां गुणानां जीवनसम्पादकत्वं न भवेत्। अत एव ब्रजसीमन्तिनीभि 'स्तव कथामृत'मित्यस्मिन् श्लोके षड्भिर्विशेषणैः कथायाः भगवत्तुल्यत्वं निरूप्यैव स्वप्राणस्थितिहेतुत्वं निरूपितम्। यदि स्वरूपतुल्यत्वं गुणानां न भवेत्तर्हिस्वसमाजस्य जीवनमेव न भवेत्। तस्मात्पुरुषोत्तमगुणानां गुणितुल्यत्वमेव, न तु न्यूनत्वमपि। तथापि गुणगुणिनोरेतावान् विशेषः।

१ संयोगेति पाठः। २ श्रवणेति पाठः।

यथा गुणिसम्बन्धेन विप्रयोगजतापनिवृत्तिपूर्वकं सर्वेन्द्रियाप्यायनपूर्वकं च परमानन्दानुभवेन स्वास्थ्यं, तथा गुणैर्न सम्पद्यत इति तेषु गुणत्वकथनम्। एतदेव मनसि कृत्वा श्रीमदाचार्यैरुक्तं **गुणास्तु सङ्गराहित्यादिति।** सङ्गराहित्यं वियोगस्फूर्तिः। ननु कथं कुत्रचिच्छीघ्रं मनसो जीवनहेतुगुणग्रहणव्यासङ्गे भगवदिच्छा कुत्रचिन्नेति को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यत्र पूर्णविप्रयोगानुभवहेतुः पुनः पुनर्मूर्च्छाजागरणतादात्म्यादिसर्वभावानुभावेनेच्छा तत्र गुणेषु शीघ्रं चित्तव्यासङ्गं कारयित्वा पश्चादविलम्बेन स्वप्राप्तिसिद्ध्यर्थं तद्भावस्वभावकार्यकरणम्। ये पूर्वमेवानुभूतसर्वविप्रयोगभावास्तेषां स्थितौ प्रयोजनाभावात्तत्कालमेव स्थित्यभाव इति नानुपपत्तिः काचित्॥१२॥

ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवदिच्छामात्रेणापि स्वास्थ्यसम्पादकत्वात्कथं न सम्पादयतीति चेत्, तत्राहुः **भगवानिति।**

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥

भगवत्पदेन षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः पुरुषोत्तम उक्तः। अस्मिन्मार्गे स्वस्यैव फलत्वात्स्वप्राप्तावेतद्भावस्यैव फलसाधकत्वादभावस्य च तापैकस्वभावत्वात्तदभावे फलप्राप्त्यभावाच्च स्वस्यैव तदभावसम्पादकत्वकथनेन स्वस्यैव फलप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वेन च स्वस्य फलत्वमेव न सिध्येदित्यत उक्तं **फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यत इति।** ननु स्वस्य फलात्मकत्वात्फलदित्यासायश्च सिद्धत्वात्स्वरूपेण तापापगमं मा करोतु, तथापि यत्किञ्चिदस्वास्थ्यं स्वप्ने वचनेन कथं न निवारयतीति चेत्, तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति। भगवता तादृशं प्रति यत्किञ्चित् स्वास्थ्यहेतुकमपि वाक्यं वचनं न कर्तव्यं न वक्तव्यमित्यर्थः। तत्र हेतुः। वचनेन यावांस्तापो निवर्तिष्यते तावानेव फलप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीति ज्ञात्वा वचनेनापि स्वास्थ्यं न करोति, यदि कुर्यात्तर्हि फलविलम्बे स्वयमेव हेतुः स्यादिति स्वस्यैव विरोधित्वं स्यादिति यत्किञ्चित्स्वास्थ्यहेतुभूतस्यापि वाक्यस्याकरणम्। ननु यत्किञ्चिद्विलम्बहेतुत्वे को दोष इति चेत्तत्राहुः दयालुरिति। दयालुरत्यसाधारणदयासमुद्रः। यदि यत्किञ्चिद्विलम्बसहिष्णुत्वमपि चेद्भवेत्, तदा तावद्दयांशस्य न्यूनत्वात्परमदयालुत्वं नोपपद्येतेति न तादृग्वाक्यकरणम्॥१३॥

एवं भक्तिमार्गीयसन्न्यासस्वरूपं साधनफलप्रकारविचारेणोपपाद्योपसंहरन्ति **दुर्लभोयमिति।**

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा।

अयमुक्तप्रकारकः **परित्यागः दुर्लभः**, तपोदानव्रतादिसाधनैरप्यसाध्यः। ननु वस्तुमात्रस्य दानादिसाधनसाध्यत्वात्कथमस्य दानादिसाधनासाध्यत्वमिति चेत्, सत्यम्। यथा तत्तच्छास्त्रे तत्तत्फलसाधकत्वेन तानि तानि साधनानि गणितानि, स्वर्गकामस्य ज्योतिष्टोमवत्।

नहि तथा भक्तिमार्गीयपरित्यागसिद्धौ साधनशास्त्रोक्तं किञ्चित्साधनमस्तीत्यस्य दुर्लभत्वम्। ननु वस्तुमात्रस्य साधनसाध्यत्वाद्भक्तिमार्गीयपरित्यागस्यापि वस्तुत्वेन निरूपणात्तस्य च शास्त्रोक्तदानादिसाधनासाध्यत्वकथनात् केन साधनेनास्य सिद्धिरिति चेत्, तत्र साधनमाहुः प्रेम्णेति। प्रेम्णा भगवत्परमासक्त्या सिध्यति। अथवा, प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा। ननु कथं जीवे भगवत्प्रेमेति चेत्, सत्यम्। एतन्मार्गप्रवर्तकाचार्यैस्तन्निष्कपटप्रपत्तिसन्तुष्टैः कृपया अस्यैतन्मार्गीयफल सिद्धिरस्त्वितिच्छया भगवन्निवेदनानन्तरं तस्मिन्नाचार्यकृपास्नेहं ज्ञात्वा स्वयमपि सन्तुष्टस्तस्मिंस्तत्फलदित्सया प्रेमयुक्तो भवतीति तेन प्रेम्णास्यापि तादृशत्वं सिध्यतीत्यत उक्तं प्रेम्णा सिध्यतीति। नान्यथा, अन्यथा एतदतिरिक्तसाधनैर्न सिध्यतीति सुष्ठूक्तं दुर्लभोयमित्यादि॥१३ १/२॥

एवं भक्तिमार्गीयत्यागविचारं उपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयपरित्यागोपसंहारमारभन्ते ज्ञानमार्गे त्विति।

ज्ञानमार्गे तु सन्न्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥

अतः कलौ स सन्न्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्न्यसेत्॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्।

त्विति पूर्वसमुच्चयः। सन्न्यासः ज्ञानमार्गीयः द्विविधोपि, विविदिषाविद्वद्भेदयुक्तः। सोपि साधनफलभेदेन विचारितः। द्वैविध्यमेव प्रकटयन्ति ज्ञानार्थमिति। ज्ञानार्थं ज्ञानरूपफलसिद्ध्यर्थमेकः। चकारसमुच्चितं द्वितीयमाहुः उत्तराङ्गं चेति। “ज्ञानादेव हि कैवल्य”मिति वाक्यान्मुक्तेर्ज्ञानसिद्ध्युत्तरफलत्वाद्विद्वत्सन्न्यासस्योत्तराङ्गत्वं मुक्त्यङ्गत्वमित्यर्थः। यद्यपि ज्ञानमार्गीयद्वितीयसन्न्यासस्य मुक्त्यङ्गत्वं तथापि “बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ”इति भगवद्वाक्यात् प्रपत्तेश्च भक्तित्वाद्भक्तिव्यतिरेकेण केवलज्ञानस्य मुक्त्यसाधकत्वात्। “जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत” इति वाक्याच्च ज्ञानस्य भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वोक्त्या “विना महत्पादरजोभिषेक”मिति वचनेन भक्तेश्च महदनुग्रहकैलभ्यत्वोक्त्या च यावत्पर्यन्तं न भक्तिसिद्धिस्तावत्पर्यन्तं पूर्णज्ञानस्यापि न मुक्तिरिति ज्ञापनायोक्तं सिद्धिर्जन्मशतैः परमिति। यथा बहुशब्दस्य सङ्ख्ययाऽनियमवाचित्वं तथा शतशब्दस्यापीति ज्ञापनाय जन्मशतैरित्युक्तं। परं निर्धारितमित्यर्थः। एवं ज्ञानिनां मुक्तिप्रकारमुक्त्वा ज्ञानस्य साधनसाध्यत्वज्ञापनाय साधनानि निरूपयन्ति ज्ञानमिति। यज्ञ आदिर्यस्य श्रवणस्य, ज्ञानस्य चित्तशुद्धिहेतुकत्वाद्यज्ञस्य च चित्तशोधकत्वोक्त्या

निष्कामकर्तृत्वमुक्तम्। यतस्तादृग्यज्ञस्यैव चित्तशोधकत्वम्। तदनन्तरश्रवणस्य ज्ञानसाधकत्वं **मतं** निश्चितमित्यर्थः। **अतः** कलाविति। यतः **स** ज्ञानमार्गीयः सन्न्यासः एतावत्प्रयत्नसाध्यः अतः कलौ तावत्प्रयत्नसिद्धेरसम्भावितत्वात्तद्व्यतिरेकेण सन्न्यासस्य फलसाधकत्वाभावात् पश्चात्तापहेतुत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तं **पश्चात्तापायेति**। नान्यथा उक्तफलाय नेत्यर्थः।

ज्ञानमार्गीयसन्न्यासस्यैतावत्प्रयत्नसाध्यत्वमपि ज्ञात्वा प्रतिष्ठार्थमपि चेत्कुर्यात्तदा यथोक्ताश्रमधर्मानिर्वाहात् सन्न्यासव्यवहारस्य वेषमात्रपर्यवसायित्वेन पाषण्डित्वमेव भवतीत्यत उक्तं **पाषण्डित्वं भवेदिति**। चकारः सन्न्यासाश्रमधर्मानाचरणपापसमुच्चयार्थः। यतः ज्ञानमार्गीयसन्न्यासस्यैतावद्दोषवत्त्वं तस्मात् कारणात् कलौ ज्ञाने ज्ञानमार्गे न सन्न्यसेत् सन्न्यासग्रहणं न कुर्यात्। यद्यप्याश्रमधर्मानिर्वाहात् कलौ ज्ञानमार्गीयसन्न्यासनिषेधः कृतस्तथापि कश्चिदाश्रमोत्कर्षं श्रुत्वा बलात्कारेणाप्याश्रमधर्मनिर्वाहं करिष्यामीति बुद्ध्या कुर्यादिति तस्यापि निषेधमाहुः **सुतरामिति**। **सुतरामतिशयेन कलिदोषाणां प्रबलत्वात्** प्राबल्यात् पूर्वकृतव्यवसायनाशकत्वात्, इति हेतोस्तस्याकर्तव्यत्वमेव **स्थितं** निश्चितमित्यर्थः॥१४, १५, १६ १/२॥

एवं ज्ञानमार्गीयसन्न्यासस्य बलवद्बाधकप्रतिबन्धकत्वेन सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वमुपपाद्य त्यागाविशेषाद्भक्तिमार्गत्यागेऽपि तेषां बाधकत्वाशङ्कानिरासाय स्वत एव बाधकत्वं सम्भाव्य निराकुर्वन्ति। तत्र सम्भावनामाह **भक्तिमार्गेपीति**।

भक्तिमार्गेऽपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥

अपिशब्दः पूर्वोक्तत्यागसमुच्चयार्थः। **भक्तिमार्गेऽपि** चेद्यदि तद्वदेव दोषसम्भावना तदा तद्दोषनिवृत्त्यर्थं **किं कार्यमिति** पूर्वपक्षसम्भावनमुक्त्वा तन्निरासं प्रतिजानते **उच्यत** इति। अथवा यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषसम्भावना तदा तद्दोषनिवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयेण **किं कार्यं किं कर्तव्यं भवता उच्यत** इत्यर्थः॥१७॥

प्रतिज्ञातं दोषाभावमुपपादयन्ति अत्रेति।

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥

अत्रास्मिन्मार्गे आरम्भ त्यागोपक्रमे इत्यर्थः। आरम्भपदे उद्देश्यस्यानुक्तत्वेऽपि त्यागस्यैवोपक्रान्तत्वात्तस्यैवोद्देश्यत्वेन तदारम्भ एवेत्यर्थः। **अत्रेति**पदात् ज्ञानमार्गीयत्यागारम्भकर्तुरपक्वत्वात्पूर्वोक्तदुःसङ्गसहायादिना नाशः सम्भवति, भक्तिमार्गे तु त्यागारम्भकर्तुरलौकिकभगवद्भावपूर्णत्वेनातिपक्वत्वाद् दुःखसङ्गसम्भावनाया अप्यसम्भावितत्वात्तदन्यस्य नाशकत्वाभावान्न **नाश** इत्युक्तम्। ननु दुःसङ्गाभावान्नाशस्यासम्भावितत्वेऽपि कालकर्मस्वभावैर्नाशोस्त्विति चेत् न। यथा मर्यादामार्गीयत्यागिनामाग्नीध्रभरतादीनां कालादिभिस्त्यागनाशो दृष्टस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागकर्तुः कुत्रापि नाशो न दृष्ट इत्यत उक्तं

दृष्टान्तस्याप्यभावत इति। ननु पूर्वोक्तैः कालादिभिर्नाशसम्भवेऽपि स्रक्चन्दनादीनां शीतलत्वेन तापहारकत्वात्तल्लेपादिना तापनिवृत्त्या स्वास्थ्येन तदितरानुसन्धानात्तद्भावशैथिल्यात्तापनिवर्तकमस्त्विति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति। स्वास्थ्यहेतोश्चन्दनादेर्गृहत्यागेन सहैव परित्यागात् तैर्न सम्बन्धसम्भावनेति न तैर्नाशसम्भवः। अथवा, स्रगादीनां धर्मपित्तप्रकोपादिजनिततापनिवृत्तिहेतुत्वात्तन्निवर्त्यतापस्यात्रासम्भवान्न तेषामस्मिन् स्वास्थ्यहेतुत्वमित्यनुसन्धानेनाप्युक्तं स्वास्थ्यहेतोरित्यादि। तस्यायमर्थः। एतत्तापस्य भगवद्भावात्मकत्वाददृष्टस्य च तदजनकत्वेन तन्नाशकत्वस्याभाव इत्युक्तं बाधः केनास्य सम्भवेदिति। अत्र तापस्य केनापि बाधो नाश इत्यर्थः॥१८॥

एवं दृष्टादृष्टोपायानां नाशकत्वाभावमुक्त्वा भगवतोऽपि नाशहेतुत्वमाशङ्क्यय निराकुर्वन्ति हरिरिति।

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥

यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता तथाप्यत्रास्मिन्मार्गे ईश्वरत्वाद्बाधां कर्तुं न शक्नोति। अत्रोपपत्तिः। यस्य यथा स्वरूपं तस्य तथात्वेन ज्ञानमीश्वरस्यैव भवति, अतः अस्य भावस्य नाशे हेत्वभावमपि जानाति, स्वस्य भक्तभावाधीनत्वमपि जानातीति स्वस्याशक्यत्वं ज्ञात्वा न प्रवर्तत इत्यत उक्तं हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामिति। एवं भगवद्धेतुकबाधाभावं निरूप्य कैमुतिकन्यायेन तदितरहेतुकबाधाभावमाहुः कुतोऽपर इति। अत्र व्यतिरेके दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति। अन्यथा यद्येवं न, तदा मातरोऽपि स्वबालान् स्तन्यैः न पुपुषुः, पोषणं न कुर्युः। मातर इति बहुवचनं सर्वजात्युपलक्षकम्। क्वचित्पदेन सर्वदेशकालनियमो ज्ञापितः। (अथवा हरिरत्रेति। अत्र पूर्वं हरिपदमुक्त्वा अग्रे बाधां कर्तुं न शक्नोतीति यदुक्तं तस्यायमाशयः। यद्यपि हरिपदेन सर्वदुःखहरणसामर्थ्यमायाति तथापि दुःखहर्तृत्वमनुक्त्वा यद्बाधाभावकर्तृत्वमुक्तं, तेनास्य विगाढभावस्य स्वरूपात्मकत्वात् स्वरूपस्य च द्विदलरसात्मकत्वादस्य भावस्य रसात्मकत्वमेव, न तु दुःखरूपत्वम्। यद्यस्य दुःखरूपत्वं स्यात् तदा हरित्वेन तन्निवृत्तिं कुर्यादेव, अन्यथा नाशार्थस्य याथार्थ्यं न स्यात्। अत एव हरित्वमुक्त्वा फलबाधाभावकथनमेवोक्तं, न तु दुःखहर्तृत्वमुक्तम्। स्वयमेव चेत्स्वास्थ्यं कुर्यात्तदा स्वस्यैव फलप्रतिबन्धकत्वं भवेदित्येतदभिप्रायज्ञापनार्थमप्युक्तं हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे इति।) यथा मातृणां बालपोषकत्वाभावाशक्यत्वमेवमत्रेश्वरस्य बाधाकरणमिति भावः॥१९॥

यद्यप्येतन्मार्गीयतापस्य सर्वानाशयत्वं, तथापि ज्ञानमार्गस्तापनाशमात्रे प्रसिद्ध इति तन्मार्गबोधकवचनैस्तापनाशमाशङ्क्यय तेषामपि तापनाशकत्वाभावमाहुः ज्ञानिनामपीति।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥

तत्र हेतुः। ज्ञानमार्गस्य भक्तिमार्गपेक्षया दुर्बलत्वेन भक्तिमार्गस्य च प्रबलत्वेन तद्वाक्यानां नैतद्भावाभिभावकत्वम्। ज्ञानभक्तिमार्गयोर्दुर्बलत्वप्रबलत्वविचारः श्रीमदाचार्यैर्दशमस्कन्धविवरणे “मर्त्यो मृत्युव्यालभीत” इत्यत्र कालनियामकत्वमुक्त्वापि भक्त्युद्रेकानन्तरं समुद्विजे भवद्धेतोरिति वचनेन ज्ञानमार्गीयमाहात्म्योपमर्दनपूर्वकं भक्तिमार्गप्राबल्यमेव निरूपितमिति विस्तरभियानात्र विचारः। तथापि ज्ञानमार्गस्यापि प्रामाणिकत्वात् कदाचित् ज्ञानिवाक्यैश्चित्तव्यासङ्गमात्रत्वमपि भवेदिति तस्याप्यभावार्थं भगवत्कृतां रक्षामाहुः **न भक्तं मोहयिष्यतीति।** (जन्मप्रकरणीयतृतीयाध्याये भगवत्प्रादुर्भावानन्तरं वसुदेवस्तुत्यनन्तरं देवकीमातृचरणैर्मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानपूर्वकं ‘रूपं यत्त’दिति स्तुतावन्ते “मर्त्यो मृत्युव्यालभीत” इति पद्ये कालनियामकत्वेन पूर्वं स्तुत्वापि पश्चादुपसंहर विश्वात्म’न्निति प्रार्थनानन्तरं व्यूहरहितशुद्धपुरुषोत्तमप्राकट्यानन्तरं शुद्धभक्तिमार्गीयभावप्राकट्ये सति पूर्वस्तुतिहेतुभूतमर्यादामार्गीयभावत्वेन पूर्वस्तुत्युक्तमर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानजनितकालनियन्तृत्वादिज्ञाननिराकरणसामर्थ्यं शुद्धभक्तिमार्गीयभावस्यैव दृष्टम्। न तु पूर्वभावस्यैतद्भावनिराकरणसामर्थ्यम्। यद्येवं न स्यात्तद्वैपरीत्यं स्यात्। तस्माद्भक्तिमार्गस्यैव सर्वमार्गाधिकप्राबल्यं विचार्यैवाचार्यैरुक्तं न भक्तं मोहयिष्यतीति।) रक्षाकरणे हेतुमाहुः **आत्मप्रद** इति। आत्मानं स्वरूपानन्दं प्रकर्षेण ददातीत्यात्मप्रदः। यद्यप्यधुना तत्प्रकारकदानस्याप्रतीतिस्तथापि वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति शास्त्राच्छीघ्रं दास्यतीति सिद्धवदेवोक्तमात्मप्रद इति। हेत्वन्तरमप्याहुः प्रियश्चेति। यो यस्य प्रियः स तत्कार्यसिद्धौ यदि विलम्बं सहेत तदा प्रियत्वमेव न स्यादिति शीघ्रं तत्कार्यसिद्धयर्थं चित्तव्यासङ्गमसहमानोऽविलम्बेन रक्षामेव कृतवान्, न तु विलम्बम्, अतः सम्यगेवोक्तं प्रियश्चापीति। एवं रक्षायामव्यभिचारिहेतुद्वयमुक्तम्। **ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यतीत्यत्र** मोहाभावार्थं रक्षाकरणं निरूप्य रक्षाकरणस्यावश्यकत्वाय तद्गतधर्मद्वयपूर्वकं रक्षामुक्त्वापि पुनर्यदुक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति तत्रायमाशयः। भक्तत्वेपि यत्रात्मप्रदानेच्छा तत्रैव ज्ञानिवाक्यजमोहनिवृत्त्यर्थं रक्षा, यत्र नात्मप्रदानेच्छा तत्र ज्ञानिवाक्यजमोहनिवृत्तिरक्षापि नेत्यर्थः। तत्र निदर्शनम्। द्विजपत्नीनां ब्रजसीमन्तिनीवद्रसानुभवोपयोगिदेहवत्वमत्यार्तिभरेण गत्वा सेवां करिष्याम इति बुद्ध्या सर्वसामग्रीसम्पादनपूर्वकं पत्यादिसर्वबन्धुनिराकरणपूर्वकं चागमनम्। आगतासु तास्विव भगवद्वचनं तद्वदेवोत्तरदानेन सर्वप्रकारसाम्येप्यात्मप्रदानेच्छाभावान्न प्रीतयेनुरागायेत्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैर्जनितमोहस्य निवृत्त्यर्थं न रक्षाकरणम्। ब्रजसीमन्तिनीष्वात्मप्रदानेच्छाप्राचुर्यात्तथा रक्षा कृता। यथा ‘रजन्येषे’त्यादिमर्यादाधर्मवाक्यैः “श्रवणाद्दर्शना’दित्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैश्च मोहसम्भावनापि नाभूत्। प्रत्युत स्वविचारितप्रयोजनविरोधित्वेन तन्निराकरणमभूत्। अग्रेपि

चतुश्चत्वारिंशाध्याये भगवत्प्रेषितः श्रीमदुद्धवः “श्रूयतां प्रियसन्देश” इति भगवत्सन्देशव्याजेन तापवैकल्यव्याद्यभावार्थमुपदिष्टस्यापि ज्ञानस्य भगवता स्वात्मप्रदानेन रक्षितत्वेन सर्वात्मना स्वोपदिष्टमार्गमोहाभावदर्शनपूर्वकं “दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविकलव”मिति पूर्वोक्ततापवैकल्यव्यादिदर्शनेन सर्वात्मना स्वप्रयासनिष्फलत्वं तापादिभावस्यातिप्रबलत्वं दृष्ट्वा तासु सर्वाधिकानिर्वचनीयोत्कर्षदर्शनेन स्वस्मिन् भगवत्कृपापात्रत्वेऽप्यत्यपकर्षस्फूर्त्या स्वस्य साक्षात्तच्चरणारविन्देषु शिरःस्पर्शनेन नमनायोग्यत्वं ज्ञात्वा “वन्दे नन्दब्रजस्त्रीणां पादरेणु”मित्यनेनैकरेणुमेव यत्र नमस्कृतवान्। तस्माद्यत्रैवात्मप्रदानं तत्रैव ज्ञानमार्गीयवाक्यमोहाभावः, नान्यत्रेत्येतावत्प्रमेयं मनसि कृत्वोक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति॥२०॥

एवं सन्न्यासनिर्णयमुपपाद्योपसंहरन्ति तस्मादिति।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥

यस्माद्भक्तिमार्गीयः सन्न्यासप्रकार एतादृशोऽतो यदि तादृक्प्रकारवत्त्वं तदैतदुक्तप्रकारेण परित्यागः विरहानुभवैकार्थः परित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः। अन्यथा एतदुक्तप्रकाराकरणे स्वार्थात् स्वस्यात्मनोर्थात् पुरुषार्थसिद्धेः सकाशद्भ्रश्यते च्युतो भवतीत्यर्थः। इति एवंप्रकारिका मे मदीया मतिः। मदीयत्वकथनेन मतेरनुभवरूपत्वं निरूपितम्। निश्चिता निःसन्दिग्धेत्यर्थः॥२१॥

एवं पूर्वश्लोके मतेर्निश्चितत्वकथनान्निश्चितत्वे हेतुमाहुः इतीति।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।

सन्न्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

इतीति समाप्तौ, कृष्णप्रसादेन कृष्णः सदानन्दः पुरुषोत्तमः, तस्य प्रसादः प्रसन्नता पूर्णकृपेत्यर्थः, तेन साधनेन कृत्वा वल्लभेन श्रीकृष्णवल्लभेनेत्यर्थः। विनिश्चितं विशेषेण इदमित्थतया निर्णीतम्। निश्चये कृष्णप्रसादस्य साधनत्वोक्त्या तदितरसाधनासाध्यत्वमुक्तम्। निर्णीतमेवाहुः सन्न्यासवरणं भक्ताविति। भक्तौ भक्तिमार्गे सन्न्यासवरणं सन्न्यासाङ्गीकारप्रकारः। अथवा भक्तौ भक्तौ सत्यां अथवा भक्तौ भक्त्यर्थं भजनार्थं इदं सन्न्यासरूपं भगवतो वरणं वरणमेवेत्यर्थः। विपरीते बाधकमाहुः अन्यथेति। अन्यथा भक्तिव्यतिरेकेण करणे उक्तप्रकाराभावात् पतितो भवेत्, तस्मानमार्गात् च्युतो भवेदित्यर्थः॥२२॥

पितृपादाब्जकृपया विवृतोऽस्ति यथामति। सन्न्यासनिर्णयस्तेन प्रसीदन्तु मयीश्वराः॥१॥ भक्तिमार्गे पुमर्था ये सिद्धास्ते सर्वथा मयि। तैरेव च कृतार्थोहमिति मे सुदृढा मतिः॥२॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैकधनेन श्रीवल्लभेन विरचितं

सन्न्यासनिर्णयविवरणं सम्पूर्णम्॥

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सन्न्यासनिर्णयः।

श्रीमद्रघुनाथविरचितविवरणसमेतः।

विठ्ठलेशपदाम्भोजं भक्त्या नत्वा विचार्यते।

आचार्यप्रोक्तसन्न्यासनिर्णये तत्प्रसादतः॥१॥

अथ कर्ममार्गैकनिष्ठानां भगवत्प्राप्तिलक्षणमुख्यफलासम्बन्धात्क्लेशनैरन्तर्यं दर्शनेन जारठेपि तत्क्लेशजनितग्लान्यभावाच्च कदाचित्सङ्गवशाद्भगवदीया अप्येवंविधा मा भूवन्नित्येतदर्थमादावेव सुखोपायं सन्न्यासं निरूपयन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥

शरीरादिवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा मया तदानीमेव भगवदर्थं किमिति न यत्तमितीदृशो यस्तापः स पश्चात्तापः। भगवत्तद्भक्तातिरिक्तविषयाणां परितः सर्वतो बाह्याभ्यन्तरराहित्येन यस्त्यागः स परित्याग इत्युच्यते। स पूर्वोक्तपरित्यागो मार्गद्वये कर्तव्यत्वेनोपदिष्ट इत्यर्थः॥१॥

तृतीयमार्गस्यापि सत्वात्तत्रापि कथं नेत्यत आह कर्ममार्ग इति।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥

अत्र कर्ममार्गपदेन सकामान्तःकरणस्य सन्न्यासनिषेधो बोध्यते। अन्यथा प्रवृत्तिमार्गे सन्न्यासविधायकवाक्याश्रवणादेवाकरणे सिद्धे तन्निषेधो नोपपद्येत। प्राप्तिपूर्वकत्वान्निषेधस्य। युगान्तरे तु शरीर शोषणव्रतादिनाप्यन्तःकरणस्य विषयपराङ्मुखतोपपद्यते। कलौ तु तत्साधनव्रतादिकर्मणां सादुण्याभावाद्यथोक्त फलानर्हत्वेन सन्न्यासानुपयुक्तत्वात्सुतरां न कार्य इत्यर्थः। तदेवं मार्गद्वय एव कर्तव्यत्वेन प्राप्तौ ज्ञानापेक्षया भक्तेरभ्यर्हितत्वात्प्रथमं भक्तिमार्गे कथं कर्तव्य इत्येतादृशी विचारणा क्रियत इत्यर्थः॥२॥

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते॥

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात्॥३॥

श्रवणादीति। वैयग्याभावपूर्वकं भक्तिसाधनश्रवणादिषु प्रवृत्त्यर्थं सन्न्यासश्चेत्कर्तव्यस्तदा स एवंविधः इह भक्तिमार्गे न स्वीक्रियत इत्यर्थः। ननु श्रवणादिसाधनानां भक्त्यनुकूलत्वाद्भक्तिसाधनश्रवणादिसम्पत्त्यर्थं सन्न्यासः कुतो नेत्यत आह सहायसङ्गसाध्यत्वादिति। भगवत्तत्त्वं जिज्ञासोरेकाकिनः श्रवणादेः सहायस्य सङ्गः सम्पत्तिस्तत्साध्यत्वात्। नहि श्रावयितारं विना श्रवणं सम्भवति। नच श्रुतस्यापि ग्रन्थपर्यालोचनगुरूपसत्यादिना विना स्थैर्यम्, अतस्तदंशस्य त्यक्तस्यापि पुनः स्वीकारे वान्ताशित्वमेव। इदमेकं बाधकम्। अपरमाह साधनानामिति। अल्पकालपर्यन्तं श्रवणादिसाधनमादरणीयमित्यपि नास्ति, यतो यावज्जीवमपक्वकषायैर्योगिभिः साधनानि रक्ष्यन्त एव। इदं द्वितीयम्॥३॥

अभिमानादिति।

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥४॥

विविदिषादशयां सर्वथा कामक्रोधाद्यनपगमाद्ग्रन्थादिपक्षपातेन प्रतिवादिनिराकरणाय यत्नोपि सम्भाव्यते, तादृशश्चाभिमानकृतः सन्न्यासे कृतेऽल्पोपि नोचित इत्यर्थः। इदं तृतीयम्। नियोगादिति। गुर्वाज्ञा नियोगः। तदकरणे प्रत्यवायः, तत्करणे व्यासङ्गः, तथा सति नेष्टसिद्धिरिति भावः। इदं चतुर्थम्। तद्धर्मैरिति। सन्न्यासे सर्वत्यागस्य मुख्यत्वात् श्रवणादीनां ग्रन्थादिस्वीकारसाध्यत्वात् परस्परं धर्मैर्विरोधाद्भक्तिमार्गेण्यशेषत्वेन सन्न्यासो न प्रशस्त इत्यर्थः॥४॥

भगवद्धर्माचरणे अनर्थाकरगृहादीनां बाधकत्वात् प्रतिबन्धापगमाय सन्न्यासो यदि कर्तव्यस्तदापि बाधकत्वमाह अग्रेपीति।

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्स कामतः॥५॥

गृहादिसङ्गभावाय सन्न्यासे कृतेपि तदनन्तरं तादृशैः पूर्वोक्तसहायादिभिरेव सङ्गो भवति। अन्तःकरणस्य सर्वांशे भगवत्परत्वाभावात्। नान्यथा। (न) भगवदेकपरतेत्यर्थः। ननु भगवदर्थत्वेनैवमपि क्रियमाणे फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह स्वयं चेति। भक्तिमार्गविरुद्धमिदमिति ज्ञात्वापि यः सन्न्यसेत्, स विषयवासनाबलितान्तःकरणत्वेन भगवद्रसानुभवात्यक्तविषयेष्वेवाभिनिविशेत्। स कामतः कामित्वाद्विषयाक्रान्तः

१ वैराग्यभावपूर्वकमिति पाठः। २ कर्तव्यत्वेन प्राप्तौ ज्ञानापेक्षया भक्तिमार्गे न स्वीक्रियत इति पाठः। ३ अनर्थाकरणेति पाठः ४ असाधकत्वमिति पाठः ।

पाषण्डी च भवेत्। धर्मध्वजित्वात्। दृढतरवैराग्याभावे तादृशधर्माचरणं निष्फलमेव। तदुक्तं भगवता “दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्” अन्यदपि “कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते” इति॥५॥

नन्वेतादृशानामपि कदाचिन्महता कालेन फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह विषयाक्रान्तेति।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥

विषयाभिनिविष्टान्तःकरणानां हरेरावेशः चित्ते हरिस्वरूपस्थितिर्न भवतीति शेषः। तच्च सर्वदा, न कालनैयत्येन। अत इति। यतः पूर्वोक्तानां दोषाणां सम्भवः अतः कारणादत्र अस्मिन्विचारे, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधन इति निमित्तसप्तमी। तेन साधनसम्पत्त्यर्थं यः परित्यागः स सुखं नावहति, न करोतीत्यर्थः। न केवलं सुखाभावः, किन्तु दुःखमपि इति भावः॥६॥

तर्हि किं लिप्सुः प्रवर्ततेत्यपेक्षायामाह विरहेति।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते॥

स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥

‘तन्मनस्कास्तदालापा’ इत्यादिषु प्रसिद्धो यो ब्रजसुन्दरीणां श्रीकृष्णाङ्गसङ्गवियोगकालीनो भावविशेषः कश्चनानिर्वचनीयः अनुभवैकवेद्यो यः सोऽत्र विरहपदेनोच्यते, तस्यानुभवः साक्षात्कारः, तदर्थं तु सन्न्यासो भक्तिमार्गीयः प्रशस्त इत्यर्थः। उक्तमपि पुनः शिक्षार्थमाहुः स्वीयेति। स्वस्य बन्धो बन्धनहेतुर्गृहादिः, तन्मात्रैकनिवृत्यर्थं चेत्सन्न्यासः, तदा सोऽत्र भक्तिमार्गे बन्ध एव ज्ञेयः, तस्य स्वमार्गीययथोक्तफलासम्पादकत्वात्। नान्यथा बन्धातिरिक्तफलासम्पादक इत्यर्थः। अत्र चेदिति पदमध्याहार्यम्॥७॥

न‘न्वाचार्यवान् पुरुषो वेदे’त्यादिवाक्यैर्गुर्वनुग्रहलभ्यत्वं सन्न्यासादेः श्रूयते, तदुक्तसाधनाचरणं च। तच्च सर्वं प्रकृते कथं सेत्स्यत इत्यत आह कौण्डिन्यगोपिका इति।

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते॥८॥

कौण्डिन्यनामा यो महर्षिः। याश्च रासमण्डलान्तर्वर्तिन्यो गोपिकाः। कौण्डिन्यश्च गोपिकाश्चेति द्वन्द्वः। विरहानुभवार्थिसन्न्यासे गुरव उपदेष्टार एताः प्रोक्ताः सम्यगुक्ताः। नहि भक्तिमार्गे एतदतिरिक्तस्यान्यस्यैवंविधत्वं सम्भवति। यद्यपि तासां साक्षादुपदेष्टृत्वं न दृश्यते, तथापि तदाचरणं श्रुत्वा दृष्ट्वा वा यः प्रवर्तते, तं प्रति

१ तत्र न सर्वदेति पाठः।

तादृशलौकिकमार्गप्रदर्शकत्वात्तासामेव गुरुत्वं युक्तम्। श्रूयते च भविष्योत्तरे अनन्तव्रतकथायां कौण्डिन्यस्य सर्वत्यागपूर्वकं भगवदेकपरतया स्थितस्य शीघ्रमेव तत्प्राप्तिः। तद्यथा “ततो जगाम कौण्डिन्यो निर्वेदाद्वनगह्वरम्। अनन्तं मनसा ध्यायन् कदा द्रक्ष्यामि केशवम्। व्रतं निरशनं कृत्वा ब्रह्मचर्यं जपन् हरिम्। विह्वलः प्रययौ सोप्यरण्यं जनविवर्जित”मित्यादि। ब्रजसुन्दरीणां तु ‘गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै’ रित्यादिषु स्फुटमेवालौकिकतथाविधत्वम्। यद्यप्येतासां साम्यं कर्तुं मनसाप्यशक्यम्, तथापि त्यागस्येतोधिकस्य सर्वथा अभाव एवान्यत्रेति ज्ञापनार्थम्। एतादृशसर्वात्मभावपूर्वकान्यविषयपरित्यागे झटिति भगवत्प्राप्तिरिति भावः। साधनं च प्रोक्तमित्यर्थः। किं तत्साधनमित्यपेक्षायामाह। तनोति स्वरूपानन्दानुभवं विस्तारयतीति तत्। तादृशो यो यस्य भक्तस्य यादृशी भावना तथा सिद्धः सम्पन्नो भावविशेषः स एव साधनस्थानीयः। एतदतिरिक्तस्यान्यस्य यागादेः साधनत्वं नेष्यत इत्यर्थः। यद्वा तदुरुत्वेनोक्तं यत्तत्साधनम्॥८॥

एवंविधसन्न्यासवतः प्रवृत्तिवैलक्षण्यमन्यापेक्षया ज्ञानादिभिरप्रतीकार्यत्वं चाहुः विकलत्वमिति।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥

उद्देश्यवस्त्वप्राप्तिदशायां चिन्ताबाहुल्याद्विकलत्वं विक्षिप्तचित्तत्वं। तथैवास्वास्थ्यं शरीरे तदलाभे वैवर्ण्यपाण्डुरत्वादि। एतद्वयमपि प्रकृतिः स्वभावान्तःपात्येव, नौपाधिकम्। तादृशावस्थस्य उपायान्तराप्रतीकार्यदुःखत्वमाह प्राकृतमिति। भगवल्लीलौपयिकस्वरूपज्ञानापेक्षयान्यद्यच्छास्त्रजन्यमल्पसारं ज्ञानं तदत्र प्राकृतमुच्यते। गुणाश्चाणिमाद्यैश्वर्यादियागेसिद्धयः। तदिदं सर्वमप्येवं वर्तमानस्यैतादृशावस्थस्य न हि बाधकाः, न समीहितान्तरायहेतवो भवन्तीत्यर्थः। एवंदशापन्नस्य शास्त्रीयं माहात्म्यादिबोधकं ज्ञानं न तच्छोकनिवर्तकम्। यत्र सर्वसम्मतस्वास्थ्यहेतुज्ञानस्याप्यप्रयोजकत्वम्, तत्र किं वाच्यमैश्वर्यादीनामिति भावः। प्रकृतेरिति पाठे वैकल्यं विपर्यासः। अन्यत् समानम्॥९॥

ज्ञानमार्गीयसन्न्यासापेक्षया यथा भक्तिमार्गीयस्य सन्न्यासस्योत्तमसाधनत्वं तथैव तत्फलस्यापीत्याहुः सत्यलोक इति।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्न्यासेन विशेषतः।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥

सत्यलोको ब्रह्मलोकः। तत्र ज्ञानात् सन्न्यासाश्रमरहितकेवलज्ञानादपि स्थितिर्भवति। सन्न्यासेन सहिता तु विशेषतः पुनरावृत्तिरहितेत्यर्थः। तथा च नारायणे श्रूयते “वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परन्तकाले

परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्व” इति। भक्तिमार्गीयमाह भावनेति। यत्र यस्मिन् फले भावनैव साधनं भवति तत्र फलमपि तथा भावनानुरूपमेव भवेत्। यथा ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनानां फल्गुत्वादल्पफलसम्पादकत्वम्, न पूर्णस्य, एवं भावनानामनन्तत्वात् फलस्याप्यानन्त्यमिति भावः। अत एवाचार्यैरुक्तम् “प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्। पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्ममे”ति। भगवच्चिन्तनपरस्य ब्रह्मलोको नानुरूपं फलमिति तु श्रीविष्णुपुराणे श्रूयते। तद्यथा “यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोपि यच्चिन्तने विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोपि लोकोऽल्पकः। मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः किं चित्रं यदधं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तित” इति॥१०॥

तादृशः इति।

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।

बहिश्च प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद्यदि॥११॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा॥

क्विन्प्रत्ययान्तस्य बहुवचनम् तादृश इति ज्ञेयम्। ये केवलज्ञानमार्गीयास्ते सत्यलोकादावेव तिष्ठन्ति, न तु पुरुषोत्तमे, भक्तिमार्गान्तःपातित्वात्। आदिपदेन सङ्कर्षणादिस्थानं ज्ञेयम्। यद्यपि “ब्रह्मणा सह मुच्यन्त” इति वाक्याद्ब्रह्मलोकादप्यग्रे गतिस्तत्रस्थानां श्रूयते, तथापि भजनानन्दानुभवादेतदपेक्षया तुच्छत्वमेवेति भावः। तर्हि ब्रह्मलोकस्थानामपि कुतो न भजनानन्दानुभवः? भजनीयस्वरूपस्यान्तः प्रवेशाभावादित्याह बहिश्च प्रकट इति। आकाशवदन्तर्बहिश्च प्रकटः सिद्धोपि स्वात्मा भगवानन्तः स्थितोपि बहिः प्रकटीभूय स्वलीलाभिनिविष्टचित्तेषु यदैव प्रविशेत्तत्रैवान्तर्हितो भवेत्, तदैव सकलो बन्धो गृहादिर्नाशमेति, तिरस्कृतं भवति, न त्वन्येनापि प्रकारेणेत्यर्थः अत एवोक्तम् “प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते”ति। यथा शुष्ककाष्ठस्थितो वह्निः शीतशातनासमर्थः, स एव मन्थनादिना बहिर्भूतो ज्वालादिरूपेण तत्रैव काष्ठं प्रविष्टः काष्ठं स्वात्मसात्कृत्वा शीतं निवर्तयति, एवं बहिःस्थितमानन्दघनस्वरूपमपि भक्तभावनाभावितं यावन्न पुनः प्रविशति, तावन्न तत्स्वरूपप्राप्तिरिति भावः। ज्ञानमार्गीयाणां तद्गन्धलेशाभावान्न तत्प्राप्तिशङ्कापि॥११॥

ननु विरहावस्थाया किमवलम्बनं जीवनमित्यत आह गुणशस्त्विति।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि॥१२॥

भगवत्सङ्गस्य राहित्यात्। अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी। तेन सङ्गराहित्यं प्राप्तय स्थिते सति गुणास्तस्यैवानुक्रियमाणा लीलास्तदीयगुणानुवादो वा। तदुक्तम् “तव कथामृतं तप्तजीवन”मिति। त एव जीवनाय भवन्ति। हिशब्दः प्रसिद्धौ॥१२॥

भगवानिति।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥

अत्रास्मिन् जीवने अन्तर्हितो भगवानेव बाधकश्चेत्सोपि फलरूपत्वान्नैवंविधो भवतीत्यर्थः। ननु गुणानां जीवनहेतुत्वोक्तावपि यावन्न दृगोचरत्वं स्वरूपस्य भवेत्, तावत्तापापायोपि नेति तदर्थं स्वास्थ्यजनकं प्रकारान्तरेण बोधकवाक्यं कर्तव्यं चेत्तत्राह स्वास्थ्यवाक्यमिति। न कर्तव्यं न स्वयमन्यस्माच्छ्रोतव्यम्। न चान्यस्मै श्राव्यमित्यर्थः। तथा च स्वास्थ्यं भगवानेव करिष्यतीत्याह दयालुरिति। यतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छुः अतो भक्तानाभेतादृगवस्थां ज्ञात्वा विलम्बं न करिष्यति, अतो न विरुद्धयते, न प्रतिकूलमाचरिष्यति। प्रत्युत परोक्षभजनानन्ददानेपि भक्तकृत्यं प्रति स्वस्य ऋणित्वमेवाङ्गीकरोति। तच्च भगवतैवोक्तम् “न पारयेहं निरवद्यसंयुजा”मित्यादि। एवंविधानां स्वास्थ्यवाक्यसहस्रैरपि नेष्टसिद्धिरिति परमार्थः॥१३॥

दुर्लभोयमिति।

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा।

अयं भक्तिमार्गीयो यः परित्यागः स प्रेम्णा निरुपधिस्नेहादेव सिध्यति, अतो दुर्लभः अन्यैः साधारणैः कर्तुमशक्य इत्यर्थः॥१३ १/२॥

भक्तिमार्गीयं निरूप्य ज्ञानमार्गीयमाह ज्ञानमार्ग इति।

ज्ञानमार्गे तु सन्न्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥

अतः कलौ स सन्न्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्न्यसेत्॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः।

विचारोत्रोपपत्तिस्तस्मादित्यर्थः। स द्विप्रकारकोऽपि ज्ञेयः। अपिशब्दोऽत्र गर्हायाम्। द्वैविध्यमाह ज्ञानार्थमिति। ज्ञानोत्पत्त्यर्थमेकः। उत्तरस्य मोक्षस्याङ्गं तदर्थमिति यावत्। यद्यपि ज्ञानार्थस्यापि मोक्षाङ्गत्वमेव, तथापि प्रयोजनवशाद्वैविध्यम्। अन्यथा कर्मणोपि द्वैविध्यं न स्यात्। परन्तूभाभ्यामपि जन्मशतैर्बहुजन्मभिरभ्यासेन सिद्धिर्मोक्षो भवति। न भक्तिमार्गीयवज्झटिति। अत एव भगताप्युक्तम् “बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः” इति। व्यवहारेपि विद्वत्सन्न्यासो विविदिषासन्न्यास इति श्रूयते द्वैविध्यम्। भक्तिं विहाय केवलज्ञानार्थमेव यः सन्न्यासः स दोषग्रस्तत्वान्न कर्तव्य इत्याहुः ज्ञानं चेति। चकारान्मोक्षोपि साधनसापेक्ष एव। तत्र हेतुः।

यज्ञादिश्रवणात्। यज्ञादिकं साधनत्वेन श्रूयत इत्यर्थः इदं तु गीतायाम्
 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा' इत्यादिषु स्फुटम्। यज्ञादीनां साङ्गानामेव फलसम्पादनक्षमत्वात्,
 तच्च कलौ सर्वथैव न सम्भवतीत्यतस्तत्करणं पश्चात्फलदशायां तापायैव, न
 सुखाय। पूर्वोक्तधर्मध्वजित्वेन पाषण्डित्वमेव स्यात्। अपिशब्दादग्रेपि फलाभावः।
 अत एव श्रीमद्भागवते “श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्ये” त्यादिनोक्तम्। यत एवंकरणे
 पश्चात्तापः फलसम्बन्धश्च। तस्मात् ज्ञाने न, ज्ञानमार्गे न सन्न्यसेत्, कलौ
 साधनबलस्याल्पत्वात्कालकृतदोषाणां प्राबल्यात्सुतरामेव न कार्य इति
 वस्तुस्थितिरित्यर्थः॥१४, १५, १६ १/२॥

एवं भक्तिमार्गेपि दोषमाशङ्क्यय समाधत्ते भक्तिमार्गेपीति

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥

अत्रारम्भ इति। अस्मिन्भक्तिमार्गीयसन्न्यासस्योपक्रममात्रेपि कृते न नाशः,
 न कृतोपक्रमवैयर्थ्यं, नापि विघ्नो भवेत्, नापि प्रत्यवायः। तदुक्तं भगवता
 “नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो
 भयादि”ति श्रीभागवतेपि “तथा न ते माधव तावकाः क्वचि”दित्यादिना। किञ्च,
 पूर्वमेवं चिकीर्षोः कस्यचिदन्यथाभाव इत्यर्थे सर्वसम्मतदृष्टान्तस्याप्यभावात्, अतो
 ज्ञानमार्गीयवदत्रत्यस्य न पातादिशङ्केत्यर्थः। भक्तिरहितज्ञानमार्गीयस्य तु पातः
 श्रूयते श्रीभागवते “येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
 आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनादृतयुष्मदङ्घ्रय” इति। किञ्च, असिद्धस्य
 स्वास्थ्यहेतोस्तुच्छविषयादेः परितः सर्वतस्त्यागादेव न बाधः सम्भवति। अन्तर्बहिः
 सिद्धविषयस्य तु स्वेष्टफलत्वादेव न तत्सम्भव इत्यर्थः। यदि तदेकाश्रितानामपि
 तस्मादेव बाधः स्यात्तदा मातृमात्रैकजीवनान् बालान्मातरोपि न क्वचित्पुपुषुर्न स्तन्यैः
 पुष्णीयुः, पुष्टाः न कुर्युः, प्रत्युतानिष्टं च कुर्युः, न त्वेवं कुत्रचिदस्तीत्यतो न
 बाधशङ्कालेशोपीति भावः॥१७ १८ १९॥

अल्पज्ञं प्रत्याहुः ज्ञानिनामिति।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥

ज्ञानमार्गप्रशंसावाक्यैरपि तद्द्वारा स्वभजने प्रवृत्तं न मोहं प्रापयिष्यति।
 इदमुत्कृष्टमिदं वेत्येवंविधम्। ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य स्वतन्त्रस्य
 कदाचिदेवमपि करणं

स्यादिति चेत्तत्राह आत्मप्रद इति। स्वस्वरूपं भक्तेभ्यो दत्तवान्, तदधीनत्वेन स्थापितवान्, यश्च स्वात्मत्वेन प्रियश्च। अत एवोक्तम् “प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे”ति। अपिशब्दादेवमजानतामभक्तानामप्रियश्च। चकारात् स्वस्य भक्तस्य कृत्यनुबुभूषुत्वमपि। एतादृशस्यापि मोहकत्वे न किञ्चित्कारणमस्तीत्यर्थः॥२०॥

उपसंहरन्ति तस्मादिति।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥

उक्तप्रकारेण भक्तिमार्गे स्थित्वा विरहानुभवार्थमेव क्रियताम्, अन्यथा इमं प्रकारान्तरं त्यक्त्वा प्रकारान्तरेण तदाचरणे स्वार्थात् स्वस्मिन्नेवार्थ्यते अन्विष्यत इति स्वार्थो भगवान् तस्माद्भ्रश्यते दूरे पततीत्यर्थः। इति एवंप्रकारिका मे निश्चिता बुद्धिरित्यर्थः। यद्वा, स्वार्थात् समीहितफलादित्यर्थः॥२१॥

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।

सन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

इतीति। कृष्णः प्रसाद्यते येन, कृष्णस्य प्रसादन्येषां यस्मादिति वा। तत्प्रसादरूप एवेति वा। ईदृशेन वल्लभेन भक्तौ भक्तिमार्गे सन्यासस्य वरणं चरतीति स्वीकरणम्। इति उक्तप्रकारेण विशेषतो निश्चितं निर्धारितम्। भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्येदं विहायान्यथा अन्येन ज्ञानमार्गाद्युक्तप्रकारेण स्वीकरणे पातित्यमेवेत्यर्थः॥२२॥

आचार्यचरणामभोजरजोरञ्जितवागहम्॥

कृतवान् भक्तिसन्यासविचारे सुविचारणाम्॥१॥

कर्मणा मनसा वाचा प्राणैर्दरिर्धनैरपि॥

विट्ठलेश त्वदीयोस्मि नान्यथा ज्ञातुमर्हसि॥२॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ
सन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम्॥

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सन्यासनिर्णयः।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः।

यत्पदाब्जरसास्वादविस्मृतान्यसुखा मुहुः।

रमन्ते तद्गुणालापैस्तं वन्दे गोकुलेश्वरम्॥१॥

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मत्या भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम्। तत्रापि भजनानन्दानुभवः श्रीगोपीजनवल्लभस्य। तथाहि। “रसो वै स” इत्यादिभ्यो भगवान् रसरूपः। रसश्च शृङ्गारः। स च संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः। तेन तदुभयभावात्मकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम्। स च लीलासृष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति। ततः पूर्वदशायां तु संयोगाभावात् सर्वपरित्यागपूर्वकं विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम्। सर्वपरित्यागं विना लौकिकांशस्य सत्त्वादव्यग्रतया विप्रयोगानुभवासम्भवात्। स च परित्यागः कस्मिन् मार्गे कर्तव्यः, कदा वा कर्तव्यः, कथं वा कर्तव्यः, किमर्थं वा कर्तव्यः, करणानन्तरं च तस्य कीदृशी दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थं विचारप्रयोजनमनुवदन्त एवाचार्याः परित्यागविचारं प्रतिजानते पश्चात्तापनिवृत्यर्थमिति।

पश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यते।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च परित्यागः कर्तव्यः, तत्रापि सिद्धदशायामेव, न तु साधनदशायाम्। साधनदशायामत्यन्तवैराग्याभावेन परित्यागानिर्वाहात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन कृतोपि परित्यागः पश्चात्तापाय भवति। एतावत्तारतम्यज्ञानाभावे भगवदीया अपि पूर्वमेव परित्यक्तसर्वार्थाः सन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्तप्ता भवेयुः तथा चान्येषां स्वस्य च पश्चात्तापस्यानाविर्भावार्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः। यद्वा। सकलदैवजीवानां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया ह्याचार्याणां भूलोकेऽवतारः। सा भगवत्प्राप्तिश्चाचार्यैर्भक्तिमार्गप्राकट्येन क्रियते। तत्र यथा सर्वसिद्धान्तमुक्तवन्तस्तथा अव्यग्रतया निरन्तरं विप्रयोगभावानुभवार्थं परित्यागोपि पूर्वमेव कथनीयः। तथा चैतावत्कालं वृथा विलम्बः कृत इति यः पश्चात्तापः तस्य निवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः। अथवा। परित्यागेन पूर्वमहर्निशं

विप्रयोगभावानुभवः, तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः। तथा च पश्चात् परित्यागानन्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ति, तयोर्निमित्तं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः। तेनोभय प्रकारकभगवद्भावानुभवे आचार्योद्यम एव हेतुरिति सूचितम्। यच्च 'विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशक' इति सर्वोत्तमे उक्तम्। तदव्यवधानविवक्षया सवासन इति परिशब्दार्थः। ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत्? तत्राहुः स मार्गद्वितये प्रोक्त इति। विशेष आधिक्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः। विशेषतः इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशां प्राप्त मार्गद्वितये भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च स परित्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः॥१॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥

अथ कर्ममार्गे साधनदशायां ज्ञानमार्गे उपासनामार्गे साधनदशायां भक्तिमार्गे च परित्यागः पश्चात्तापायेति तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागस्य विचारः क्रियते। विशेषतः विशेषं प्राप्य। स च सिद्धदशा उभयोः। यद्वा, बहुजन्मसु परित्यागः कर्तव्य इति आवृत्ति बाहुल्यमेव विशेष इति ज्ञानमार्ग एव विशेषत इत्यन्वेति। निष्कामतया कर्मकरणं चित्तशुद्ध्यर्थम्, कर्ममार्गे पत्नीं विना च यज्ञादिकरणमसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति। पत्नी साहित्येपि निष्कामतया कर्माचरणं सन्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशादिशुद्ध्यभावान्न सम्भवतीत्याहुः सुतरां कलिकालत इति। यद्वा। आयुषश्चतुर्थभागे सन्यास इति यन्मतं तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गे विरक्तिं विना न कर्तव्यः परित्यागः किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति कर्ममार्गे न परित्यागः, सुतरां कलिकाले॥२॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात्॥३॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः॥

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥४॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गे भवति नान्यथा।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः॥५॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥

श्रवणादीनां निरन्तरमव्यग्रतया सिद्ध्यर्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकत्वाद्भगवदीयाः

सहायास्तेषां सङ्गेन श्रवणादयः साधनीयाः। पूजादीनां साधनं च रक्ष्यम्, साधनदशायां अभिमानश्च विद्यते। 'तावत्कर्माणी'ति वाक्यात् साधनदशायां पूर्णविरक्त्यभावाद्देवादिरूप

भगवन्नियोगाद्वर्णाश्रमधर्माः कर्तव्या एव। सन्न्यासधर्मेः सह श्रवणादीनां विरोधोऽपि। गृहे भगवदीयैः सङ्गाभावात्त्यागः कार्य इति चेत्तत्राहुर्गृहादेरिति। गृहत्यागे कदाचित्कुत्रचित्सत्सङ्गः स्यादित्याशया कार्य इति चेत्तत्राहुः स्वयं चेति। विषयैरन्तःकरण आक्रान्ते सत्सङ्गार्थं तस्योद्यम एव न भवतीति भावः॥३॥४॥५॥६॥७॥

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नन्यदिष्यते॥८॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्न्यासेन विशेषितात्।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि॥११॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।

गुणास्तु सङ्गरहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि॥१२॥

कौण्डिन्यादावपि भावनयैव भावः सिद्ध इत्याहुर्भावो भावनयेति। ज्ञानं ब्रह्मज्ञानम्, गुणाः सत्वादयश्च, भगवदिच्छया यदि भवन्ति तदा ते बाधकाः। यत्र भावना साधनं तत्र भावनानुरूपं फलम्। ननु तादृशस्य ज्ञानं गुणाश्च कथं बाधका भवेयुस्तत्राहुर्भावना साधनं यत्रेति। तथा च यादृशी भावना तदनुरूपं फलम्। तेन यावत्पर्यन्तं तल्लीलाभावना तावत्तदनुरूपं फलं, यावद् ब्रह्मज्ञानेन सर्वत्र ब्रह्मभावना तावत्तदनुरूपं फलं, यावच्च सत्वादिगुणैः कृत्वा विषयेषु भावना तावत्तदनुरूपं फलम्। तथा च भावभावनानां साधारण्यात् फलेपि तथात्वम्। बाधकत्वं विवृण्वन्ति तादृश इति। ब्रह्मभावनादियुक्ताः सत्यलोकादावेव तिष्ठन्तीत्यर्थः। ननु ब्रह्मभावनया किं स्यादित्यत आहुर्बहिरिति। यदि बहिः प्रकाश एव न स्याद्यदि च पश्चाद्बह्विवदन्तर्न प्रविशेत्तदापि न संसारलयः। यदि गुणेष्वसक्तिः स्यात्तदा ते बाधका भवेयुः, परन्तु तादृशानां पूर्वमेव गुणेष्वसक्तेर्निवृत्तत्वाद्गुणाः केवलं जीवनाय भवन्ति, न तु बन्धकाः। यद्वा। तादृशानां सर्वत्यागादन्यैः कैश्चिदपि न सङ्गः, प्रचुरविप्रयोगे च जीवनमशक्यम्। यदि च भगवदीयैः सङ्गः स्यात्तदा तद्वार्तयापि जीवनं स्यात्, भगवतश्च तादृशानामपि जीवनमन्येषामुद्धारार्थं सम्पादनीयं भवति। तदा भगवांस्तेषां जीवनार्थं प्राकृतेष्वपि गुणेषु तेषां मनो यत्किञ्चित्संयोजयति।

नन्वेवं गुणेष्व्वासक्त्यभावादत्यन्तवियोगे जीवनं न स्यात्, तथा च जीवनविधातकत्वेन भगवान् बाधकत्वेनाभिमतः स्यादित्याशङ्क्ययाहु भगवानिति।

भगवान् फलस्वरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा॥१३ १/२॥

जीवनविधातकत्वेपि प्रतिक्षणं फलरूपभगवद्भावानुभावकत्वान्न बाधकः। न हि तदवस्थातो जीवनमधिकमस्ति। यद्वा। ननु यदि भगवांस्तेषां मनो गुणेषु किञ्चित्संयोजितवांस्तदोत्तरोत्तरं गुणेष्वधिकासक्त्या भगवद्भावस्य विधातः स्यात्, तथा च भावविधातकत्वेन भगवान् बाधकः स्यादित्याशङ्क्ययाहुः भगवानिति। नहि भगवान् भावं विहन्तुं गुणेषु तेषां मनः संयोजयति, किन्तु तेषां जीवनार्थम्। तथा च यावता तेषां जीवनं भवति तावदेव तेषां मनो गुणेषु योजयति, न तु गुणेष्वधिकामासक्तिं जनयति। कुतः। फलरूपत्वात्। नहि फलं बाधकं भवति। ननु भगवान् स्वतोऽन्यद्वारा तेषां स्वास्थ्यवाक्यान्वेव कथं न सम्पादयति, येन स्वस्थतया जीवनं भवेत्, तत्राहुः। स्वास्थ्यवाक्यमिति। विप्रयोगभावं बाधित्वा जीवनसम्पादनमनुचितं यतः। न हीतोपि जीवनमधिकमस्ति, अर्हे तव्यः। तथा करणं चाशक्यम्। न ह्येतद्भावस्य बाधनं भगवतान्येन वा कर्तुं शक्यम्। वक्ष्यन्ति च “हरिरत्र न शक्नोती”ति। शक्यार्थे तव्यस्तदा। ननु परमदयालुः कथं तेषां जीवने उपेक्षां करोति, तत्राहुः दयालुरिति। न ह्येतादृशभावसम्पादकस्य दयालुता विरुध्यते॥१३, १३ १/२॥

ज्ञानमार्गे तु सन्न्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥

अतः कलौ स सन्न्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्न्यसेत्॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्॥१६ १/२॥

ज्ञानमार्गे विविदिषाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि सन्न्यासो विचारितः। तद्द्वयमाहुर्ज्ञानार्थमिति। ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं यः सन्न्यासः स एकः, विविदिषासन्न्यास इति यावत्। उत्तराङ्गं ज्ञानापेक्षया उत्तरं अग्रिमं मुक्तेरङ्गं यः सन्न्यासः स द्वितीयः विद्वत्सन्न्यास इति यावत्। परन्तु ज्ञानमार्गीयसन्न्यासे बहुजन्मभिर्मुक्तिः न त्वेकजन्मना। “बहूनां जन्मनामन्त” इति भगवद्वाक्यात्। तयोर्मध्ये विविदिषासन्न्यासस्तु युगान्तरे कर्तव्यः न तु कलावित्याहुः ज्ञानमिति श्लोकेन। तमो रजश्च विहाय केवलसत्त्वान्तःकरणः सन् निष्कामतया यदि

यज्ञादिकं करोति तदा ज्ञानमुत्पद्यते। सन्न्यासे च सामग्र्यभावाद्यज्ञादिकं न सम्भवति। ज्ञाने च यज्ञादिकं सामग्र्यत्वेन श्रूयते। सर्वं विहाय वनं गत्वा योगादिना ज्ञानसाधनं च कलौ न सम्भवति। विघ्नानां बाहुल्येनान्तरःकरणे लौकिकवासनानामनिवृत्तत्वान्मनःस्थैर्याभावाद्योगादिकमेव न सिध्यति यतः। अतो विविदिषादशायां सन्न्यासः कलौ पश्चात्तापायैव भवति, न तु सन्तोषायेत्यर्थः। किञ्च। चित्तस्थैर्याभावे सति ततोधिकं पाषण्डित्वमपि भवेदित्यपिशब्दः। चकारात्तत्कार्यरूपो नरकश्च। तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं विविदिषादशायां न सन्न्यसेत्। अथवा ज्ञानेन हेतुना सन्न्यसेत्, न तु ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वम्। युगान्तरे सम्भवेदपि, कलौ तु दोषाणामतिप्रबलत्वात् कथमपि न निर्वहतीत्याहुः सुतरामिति। स्थितं पर्यवसन्नम्॥१४, १५, १६, १६ १/२॥

ननु यदि कलौ दोषाः प्रबला एव, तदा भक्तिमार्गेऽपि कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्यय भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि नास्तीत्याहुः भक्तिमार्गेऽपीति।

भक्तिमार्गेऽपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥

यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषसम्भावना तदा कर्तव्यत्वेन किमुच्यते। एकोऽपि दोषो नास्तीति ज्ञापनार्थमेकवचनम्। तमेव दोषाभावप्रकारमाहुः अत्रारम्भ इति। अत्र भक्तिमार्गे आरम्भे प्रवेशमात्र एव नाशो न भवति। यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषाः स्युः तदा कदाचिन्नाशोऽपि स्यात्, न त्वेवम्, तेन दोषसम्भावनैव नास्ति। ननु भक्तिमार्गीयाणामपि क्वचित्कामक्रोधादयो दृश्यन्ते, तत्कथं सर्वात्मना दोषाभाव इति चेत्। सत्यम् (तत्सम्बन्ध्यङ्गीकारो) भगवदङ्गीकारो हि नित्यः। नहि भगवानङ्गीकृतं कदाचिदप्यनङ्गीकरोति। तेन यत्र क्वचिद्दोषा अपि दृश्यन्ते, तत्रापि क्रमेण दोषानपसार्य भगवान् फलं सम्पादयत्येव। अतो यथा-यथा भगवान् तेषां हृदि भक्तिमार्गमानयति, तथा-तथा दोषापगमः। अतो यदंशे भक्तिमार्गाप्रवेशस्तदंश एव दोषसत्त्वम्, तेन भक्तिमार्गे दोषाणामसम्बन्ध एव। किञ्च। न वाक्क्वचिदिदं दृष्टचरं श्रुतं वा यद्भक्तिमार्गे प्रवृष्टिः स्यापि नाशो जात इति। तेन दृष्टान्तस्याप्यभावान्न

भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि। अत एव भरतस्य जन्मान्तरायेपि फलसिद्धिः। अत एव मथुरास्थसत्रिणां मध्ये बहिर्मुखत्वेपि पश्चात् पश्चात्ताप एव। ननु भक्तिमार्गे नाशो न भवतीति सत्यं, परन्तु यदि भक्तिमार्गं न त्यजेत्। तथा च साधनदशायामत्यागेपि सिद्धदशायामत्यन्तविप्रयोगक्लेशमसहमानः सन् मनःस्वास्थ्यनिमित्तं तन्मार्गं परित्यज्य लौकिकपदार्थमेव यदि किञ्चित्परिगृहीयात्तदा नाशो भवत्येवेति चेत्तत्राहुः **स्वास्थ्यहेतोरिति**। यदैव भगवन्मार्गे प्रवेशस्तदैव लौकिकस्य परित्यागः, तदनन्तरं च यथा यथा भगवद्भावस्तथा तथा लौकिकेष्वधिकाधिकैवाऽरुचिर्जायते। तथा च लौकिकस्य स्वास्थ्यहेतोः **सर्वस्यैव परित्यागात् केन** पदार्थेनास्य भगवद्भावस्य **बाधः** अन्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः। यदि कदाचिदत्यन्तं विप्रयोगभावेनातिक्लेशादिदमपि मनस्यायाति यत्कथमपि यद्ययं भावो निवृत्तो भवेत्तदा सम्यगिति तथाप्यशक्यो भावस्य परित्यागः। न ह्येतादृशः क्षणमपि भगवन्तं विस्मर्तुं शक्नोति। न वान्येन पदार्थेनैतादृशस्य मनःस्वास्थ्यं सम्भवति। यद्वा **स्वास्थ्यहेतोः** स्वास्थ्यनिमित्तम्। लौकिकं हि सर्वं तस्योद्वेगकारीति स्वास्थ्यनिमित्तं सर्वस्य लौकिकस्य **परित्यागात् केन** पदार्थेन अस्य भावस्यान्तरायो भवेत् न केनापीत्यर्थः। अथवा। **स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तं** परित्यागात् भगवद्भावस्य परित्यागात्। अयं भावः। भगवद्भावत्यागो हि स्वास्थ्यनिमित्तं कर्तव्यः तच्चान्येन न सम्भवति। न ह्येतादृशस्यान्येन **स्वास्थ्यं** सम्भवति। तथा च केनान्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः। वस्तुतस्तु भावत्याग एव न सम्भवतीति पूर्वमुक्तमिति निर्वर्तः। नन्वेतादृशस्य स्वयं भावत्यागो न सम्भवतीति सत्यम्। परन्तु यदि कालादयः प्रतिबन्धं कुर्युः तदा नाशो भवेदेवेति चेत्, तत्राहुर्हरिरिति। अत्र विप्रयोगभावे भगवानपि प्रतिबन्धं कर्तुं **न शक्नोति** तत्र के वराकाः कालादय इत्यर्थः। न चैवमसामर्थ्यं भगवतः। वस्तुन एव तथात्वात्। ननु भक्तिमार्गे प्रवेशे सति सर्वथा न सम्भवति नाशः, परन्तु भक्तिमार्गप्रवेशे तु केवलं भगवदङ्गीकार एव मूलम्। नहि भगवदङ्गीकारं विना भक्तिमार्गरुचिर्भवति। भगवतश्च किं प्रयोजनं येन प्रवेशयेत्, तथा च कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्यय भगवान् केवलं कृपयैव प्रवर्तयतीति दृष्टान्तेन बोधयन्ति अन्यथेति। यदि प्रयोजनं विना कोपि न प्रवर्तेदेव, तदैतावत्कालं विश्वस्मिन् बालान् मातरो न पुपुषुरित्येव त्वयोक्तं स्यात् न त्वेवम्। किन्तु **पुपुषुरेव**। तथा भगवानपि प्रयोजनं विनैव केवलं कृपयैव सर्वं सम्पादयतीत्यर्थः। अग्रे **बालानां** प्रयोजनसहस्रसाधकत्वेपि मातृणां तदुद्देशेन न प्रवृत्तिः, किन्तु केवलं वात्सल्यादेव सर्वं सम्पादयतीत्याशयः। ननु भगवदङ्गीकारात् प्रवृत्तस्यापि यदि ज्ञानमार्गीयैः संसर्गः स्यात्, तदा तद्वाक्यैर्बुद्धिविपर्यासे कथं फलसिद्धिरिति चेत्, **तत्राहुर्ज्ञानिनामपीति**। न हि भगवदङ्गीकारमभिभूय तद्वाक्यानि बुद्धिं विपर्यासयितुं शक्नुवन्ति। भगवांश्च यं भक्तिमार्गेङ्गीकृतवांस्तं कदापि ज्ञानिवाक्यैर्नान्यथा करोति। सिद्धदशायां तु न सम्भवत्येव, कदाचित्साधनदशायां सम्भवेदित्याशङ्क्ययेदमुक्तम्। यद्वा। **ज्ञानिनो** विविधबुद्धिप्रकारकुशलाः। तेनात्यन्तचतुरेणाप्यन्यथा बोधयितुमशक्यो भक्तः। अग्रेपि

कदापि मोहं न जनयतीति भविष्यत्प्रयोगः ननु कथं ज्ञायते भगवान्नैव मोहयिष्यतीति,
न ह्युत्तमपदार्थं कोपि कस्मैचिद्दातुं समीहत इति चेत्, तत्राहुरात्मप्रद इति। यः
स्वात्मानमपि प्रयच्छति तस्य सर्वफलदाने कः सङ्कोचः। ते न महोदारत्वात्
सर्वस्वमपि ददाति, न तु मोहयति। प्रियश्च अतः प्रीतिकर्तृभ्यः सर्वस्वदानमुचितमेव।
परमकृतज्ञत्वात् निर्णयमाहुस्तस्मादिति। उक्तप्रकारेण सिद्धदशां प्राप्य स्वार्थात्
स्वप्रयोजनात्॥१७-२१॥

उपसंहरन्ति इतीति।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।

सन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

कृष्णः श्रीगोकुले प्रकटः। नहि तत्प्रसादं विनैतद्भावतत्त्वं ज्ञातुं शक्यम्। अतः
एव तद्वल्लभत्वं स्वस्मिन् नाम्नैवाहुः। सन्यासवरणं सन्यासाङ्गीकारः। भक्तौ
भक्तिमार्गे। यद्यपि ज्ञानमार्गेऽपि सन्यासनिर्णय उक्तः, तथाप्येतद्विचारं मनस्यागते
तस्य पुरुषार्थेष्वेव गणना जायते। अन्यथा सिद्धदशां विना पातः पूर्वस्थितभावात्
प्रच्युतिः॥२२॥

प्रणम्य च प्रभुं टीका गोकुलोत्सवसूरिणा।

श्रीगोविन्दसुतेनेयं कृता सन्यासनिर्णये॥१॥

इति श्रीगोवर्धनधारिचरणकमलैकतानश्रीगोकुलोत्सव-
विरचितं सन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम्॥

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सन्यासनिर्णयः।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवरणसमेतः।

पदारविन्दद्वन्द्वं तद्वन्देऽहं दिव्यमद्भुतम्।

हृदि यद्धारणात् कोपि तापः प्रादुर्भवत्यलम्॥१॥

मुदा तत् श्रीमदाचार्यपदाब्जं दैन्यदायकम्।

मुहुः प्रणम्य सन्यासनिर्णयो विवरिष्यते॥२॥

तथाहि।यावत्प्रेम यत् सकलं पुष्टिमार्गीयमस्ति तत्।

तावद्विचारितं तत्र सन्यासो न विचारितः॥३॥

इति तत्स्वरूपविज्ञानाभावेनैव कृते सति।

तस्मिन् स्वीयो भवेन्मार्गाच्च्युतो हीति सुनिश्चितम्॥४॥

तदानिष्टं स्वकीयस्य मार्गे स्यादिति चेतसि।

पश्चात्तापो महान् श्रीमदाचार्याणामभूत्ततः॥५॥

तन्निवृत्यर्थमेतस्य विचारोपेक्षितस्ततः।

हेतुसाधनतश्चैव फलतश्च स्वरूपतः॥

अधिकारादपि परस्तादृशः स निरूप्यते॥६॥

तत्र प्रथमं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य स्वमार्गीयभजने प्रवृत्तस्य भक्तिभावदाढ्येनान्तरासक्तिसिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्यः परित्यागविचारोपक्रमं कुर्वन्ति।

पश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यते।

स मार्गद्वितिये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥

पूर्वपीठिकोक्तपश्चात्तापनिवृत्यर्थमित्यर्थः। अन्यत्स्पष्टम्। विचारमेवाहुः स इति। परित्यागः, मार्गद्वितिये, भक्तौ पुष्टिमार्गीयायां ज्ञाने च विशेषतः कर्तव्यत्वेन प्रोक्तो, नान्यमार्गे॥१॥

ननु यथा भक्तिः ज्ञानं च मार्गौ तथा कर्मापि मार्ग इति तत्रापि स कर्तव्य इति चेत्, तत्र निषेधमाहुः।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥

कर्ममार्गे तु न कर्तव्यः। सुतरां कलिकालतः। “यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि”ति श्रुतेः अहर्निशं कर्मविधिकृतेरेवावश्यकत्वात् परित्यागानवसर एव। यद्यप्यायुषश्चतुर्थो भागस्तुरीयाश्रमेण नेय इति तत्रापि विधिर्वर्तते, तथापि सुतरां कलिकालदोषेण रोगादिजराजनितपीडया सन्न्यासाश्रमधर्मनिर्वाहः कर्तुमशक्य इति विपरीतफलकत्वान्न कर्तव्य इति भावः। अतः कारणात् मार्गयोः एव कर्तव्यत्वस्य प्राप्तत्वात् तत्र च स्वोपयोगित्वात् आदौ भक्तिमार्गे तस्य विचारणा विचारकरणम्, तच्च कदा, किमर्थं, कर्तव्यमित्यादिरूपमित्यर्थः॥२॥

तदेव निरूपयन्ति। यथा ज्ञानमार्गे विविदिषाविद्वद्भेदेन परित्यागस्य द्वैविध्यम्, तथा भक्तिमार्गेऽपि साधनसिद्ध्यर्थं फलसिद्ध्यर्थं च कर्तव्यत्वे प्राप्ते तत् द्वैविध्यं सम्भवतीति, तत्र श्रवणादिनवधाभक्तिसाधनार्थं तत्करणे स्वकीयस्य वक्ष्यमाणानिष्टं भविष्यतीति तन्निषेधमाहुः।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यः स च नेष्यते।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात्॥३॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥४॥

अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गे भवति नान्यथा।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः॥५॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥

परित्यागं कृत्वा श्रवणादीन्साधयामीति यदि कर्तव्यस्तदा स परित्यागो नेष्यते नाङ्गीक्रियते, इष्टसाधकाभावात्। तत्र हेतूनाहुः। श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्, श्रवणकीर्तनादिकर्तारः भगवद्धर्मपरा अपि मार्गस्वरूपज्ञानात् गृहस्थिता एव। तेषां सङ्गेन साध्यत्वम्, नान्यथा। अस्य तु त्यागानन्तर “मेकाकी निस्पृहः शान्त” इत्यादिवाक्यादेकाकित्वेनैव स्थितेरावश्यकत्वात् सत्सङ्गाभावेनैव कुतः श्रवणादिसिद्धिरिति तदर्थं न कर्तव्यमेवेति भावः। किञ्च कदाचित्तत्सङ्गेऽपि तेषां गृहस्थत्वेन सांसारिकत्वज्ञानात् त्यागिनः तेषु प्रवृत्तिरेव न। प्रवृत्तावपि ते ह्यस्याग्रे किमपि न कथयन्ति, यतस्ते मार्गस्वरूपज्ञातारः, अयं तु मार्गाच्च्युत इत्यतस्तदर्थं सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः। यतः स्वमार्गीयसङ्गाभावे साधारणसङ्गेन वक्ष्यमाणावस्थैव भवेत्, न तु स्वमार्गज्ञानमपि। किञ्च, साधनानां च रक्षणादिति।

अहोरात्रिप्रणवप्राणायामादिसाधनविधेरेव रक्षणस्यावश्यकत्वात् श्रवणादिप्रपन्नानवसर एवेति। किञ्च, प्रपन्नत्वसम्भवेपि तस्य साधकत्वाभावमाहुः **अभिमानादिति**। सन्यासग्रहणानन्तरं तत्त्वमस्यादिवाक्यादात्मनि सोहमित्यभिमानो भवति, भक्तिमार्गे तु समर्पणानन्तरं देहप्राणेन्द्रियादीनां भगवदधीनत्वं भवति, तदा दासत्वान्न ममेत्यभिमान इति। स्वधर्मं विहाय स्वकीयस्य श्रवणार्थं परधर्मरूपत्यागकरणे इष्टप्राप्त्यभावः प्रत्युत विपरीतफलमपि भवेदिति स न कर्तव्य इति भावः। किञ्च **नियोगादिति**। स्वमार्गाङ्गीकृतस्यान्यत्र विनियोगः सर्वथा ह्यनुचितः। त्यागानन्तरं विहितत्यागसाधनकरणे देहादीनामन्यत्रैव विनियोगो भवेत्, न तु साक्षात्पुरुषोत्तम इति। स्वमार्गफलासाधकत्वात्तथेति भावः। किञ्च तद्धर्मैरिति। पुष्टिमार्गधर्मैश्च विरोधतः। अयं परित्यागो विधिप्रयुक्तत्वान्मर्यादामार्गीयो भवितुमर्हति, न पुष्टिमार्गीयः पुष्टिमार्गो हि समस्तविधिभिरस्पृष्टः तदा तत्परित्यागः सुतरां तथेति प्रमाणातीत इत्युभयोर्धर्माणामपि भेदाद्विरोधः स्यादिति तथा। चकारात् स्वरूपफलयोरपि भेदः। एवं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य श्रवणादिभक्तिसिद्ध्यर्थं सन्यासनिषेधकथनेन “गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः” रित्युक्तप्रकारेण स्वधर्मनिष्ठया सेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सूचितम्। ननु गृहमेव बाधकं भवेत् तदा तु कर्तव्य इत्याशङ्क्यय तस्यापि निषेधमाहुः। गृहमादिपदेन तत्सम्बन्धिनश्च सर्वे यद्यपि धर्मप्रतिकूला एव, तथापि श्रवणादिसाधनार्थं सन्यासग्रहणं न कार्यम्। किन्तु तत्परित्यागेन भगवदीयैः सह सेवा कर्तव्येति ज्ञाप्यते। अत एव ‘भार्यादिरनुकूलश्चे’ दित्यादिषु साधनार्थमनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेण प्रतिकूलगृहत्याग एवोपदिश्यते, न तु सन्यासग्रहणम्। तथोक्ते “गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः” इति भक्तिवर्धिनीवचनविरोधः स्यात्। किञ्च, श्रीभागवतेपि भक्तिसाधनार्थं ‘मदर्थेऽर्थपरित्याग’ इत्यारभ्य “एवं धर्मैर्मनुष्याणां” मित्यादिभिस्सर्वसमर्पणरूपः त्याग उक्तो न तु **सन्यासः** अन्यथा ‘त्वयोपभुक्तस्रगन्ध’ इत्यनेन विरोधः स्यात्। यतः सेवाकरण एवोच्छिष्टभोजनम्, न तु सन्यासे, सेवाऽभावात्। एवं सति साधनार्थमपि त्याग उक्त इति तत्स्वरूपज्ञानेन स्वमार्गीयः कश्चित् सन्यासग्रहणं कुर्यादिति प्रकृते तन्निषेध उक्त इति सर्वमनवद्यम्। अतः परं **गृहादेर्बाधकत्वेन** सन्यासग्रहणे तादृशैः सह सङ्ग एव भवेत्, किन्तु स्वयमपि तादृशो भवतीत्याहुः। स्वयमपि तथा, ते साधनत्यागिनः धर्मध्वजिनः विषयाक्रान्ता वेशमात्रधारिणः पाषण्डिनः तथा स्वयमपि तत्सङ्गेन विषयाक्रान्तः पाषण्डी च स्यात्। तत्र हेतुः **कालतः** कलिकालदोषत इत्यर्थः। अथवा **कालत** इत्युपलक्षणम्। कालकर्मस्वभावेभ्य इत्यर्थः। यतः मार्गच्युतजीवस्य कालाद्यधीनत्वमेव, मार्गस्थितस्यैव तदनधीनत्वेन तस्य भगवदधीनत्वेन भगवान् रक्षां करोति। तादृशत्यागिनो भगवदधीनत्वाभावाद्रक्षाऽभावेन तथात्वमेवेति भावः। एवं तत्सङ्गदोषं निरूप्य फलाभावमाहुः

यदैवं विषयाक्रान्तो भवेत्तदा विषयाक्रान्तानि, देह इत्युपलक्षणम्, किन्तु देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि येषाम्। सर्वदा सर्वकालं भवेत्, प्रवेशस्यावकाश एव नास्ति, तदावेशो न भवतीति। सिद्धान्तात् तस्यापि भगवदावेशो न भवेदिति सर्वस्वहानिरेव भवतीति भावः। अतः कारणादत्र पुष्टिमार्गे पुष्टिमार्गीयस्य साधने भक्तौ साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं त्यागः सुखावहो न भवति, अनिष्टपर्यवसानात्। अतः स सर्वथा न कर्तव्य इति ज्ञापितम्॥३-६॥

ननु तर्हि कदा किमर्थं च कर्तव्यं इत्याकाङ्क्षायां तस्य प्रयोजनकथनेनैवाधिकारिणं चाहुः।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते।
 स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥
 कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।
 भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते॥८॥
 विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।
 ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥
 सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्यासेन विशेषितात्।
 भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥
 तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः॥
 बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि॥११॥
 तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।
 गुणास्तु सङ्गरहित्याज्जवीनार्थं भवन्ति हि॥१२॥
 भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते॥
 स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥
 दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा॥१३ १/२॥

विरहानुभवार्थं परित्यागोऽस्मिन्मार्गे प्रशस्तो भवति। अन्यथा नेत्यर्थः। अत्रेदमाकूतम्। स्वमार्गीयस्यङ्गीकारादारभ्य श्रीकृष्णसेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सिद्धान्तः। तदुक्तम् “कृष्णसेवा सदा कार्ये”ति। सा सेवा साधनरूपा फलरूपा चेति द्विधा। मानसी सा सेवा फलरूपा, तत्साधनरूपा तनुजवित्तजात्वेनोक्ता। एवं सति मार्गनिष्ठाया सर्वसमर्पणपूर्वकं सर्वेषां तनुवित्तादीनां भगवत्येव विनियोगकरणेन सेवाकरणे तत्सवरूपे प्रेम जायते। एतदेवोक्तम्। “गृहे स्थित्वा स्वधर्मत” इत्यारभ्य “ततः प्रेमे”त्युक्तं भक्तिवर्धिन्याम्, नो चेदिह स्थानस्य विजातीयत्वेन बाधकत्वात् साम्प्रतं वा स्वानुसन्धानाभावेन पुनर्विजातीयसङ्गेऽपि

तस्य न नाश इति तत्रैव “यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापी”त्युक्तम्। एवं सति अस्य त्यागस्य पूर्णपुष्टिभाववानेवाधिकारी, नान्यः तस्य प्रयोजनमपि प्रचुरभावपोषेण विरहानुभव एवेति सुष्ठूक्तं तथा। ननु तर्हि परित्याग एव कर्तव्यः, सन्न्यास एव किमर्थं कार्यः, तत्र हेतुमाहुः स्वीयेति। स्वीया गृहसम्बन्धिनस्तक्रियमाणो यो बन्धः तन्निवृत्त्यर्थं वेषः अन्यथा सन्न्यासाश्रमो धर्माचरणार्थं न भवतीत्यर्थः विजातीयमिलनस्य भावघातकत्वात्। तदुक्तं फलप्रकरणे “अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्ष”मित्यत्र। “यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी”ति। ननु तथापि भक्तिमार्गीयभावपोषार्थमपि विहितत्वात् गुरूपदेशं विना कथं तत्सिद्धिरित्याशङ्क्यय गुरुन्निरूपयन्ति। **कौण्डिन्य** ऋषिरनन्तगुणश्रवणेनानन्तस्वरूपासक्त्या तत्कालमेव सर्वत्यागं कृतवान्, पुनस्तद्विरहेण विकलः सन् जडादिष्वपि प्रश्नं चक्रे। तथास्यापि स्वरूपसेवाकरणे प्रेमासक्त्यनन्तरं पुष्टिमार्गीयभावोदयक्षण एव त्यागः कर्तव्य इति साम्येन स गुरुरुक्तः। अपरे **गुरवो गोपिकाः**। यथा पूर्वमप्यासक्तौ सत्यां वेणुनादश्रवणानन्तरं त्यागे कृते प्रभुसङ्गमस्तासामप्यभूत्। अग्रे पुनरन्तरासक्तिदाढ्यार्थं विरहानुभवोपि जातः, येन “तन्मनस्कास्तदालापा नात्मागाराणि सस्मरुः” इत्यादि विकलत्वास्वास्थ्यारूपावस्थाप्यासीदिति साम्येन तासां च गुरुत्वं निरूपितम्। एवं सति तद्रीत्या तथा कृते एतस्यापि फलं सेत्स्यतीति भावः। ननु यथा “यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे”दिति श्रुत्या ज्ञानमार्गीयसन्न्यासे वैराग्यं साधनम्, तथात्र किं साधनम्, तदाहुः साधनं चेति। **भावनया सिद्धो यो भावः** तत्साधनम्। पूर्वमपि भावो जायते, परं कृत्रिम इति। तादृशस्य साधनत्वं न, आसक्त्यनन्तरं “भगवता सह संलाप” इत्याद्युक्तप्रकारकमनोरथात्मकभावनया सिद्धिं प्राप्तो यः पूर्णः पुष्टिमार्गीयो गूढो **भावः तत्साधनम्। न अन्यदिति।** अतिरिक्तं साधनं नेष्यते। सापेक्ष्यतत्वाभावान्नापेक्षित इत्यर्थः। एवं सति वैराग्यमप्येतदेव, न ज्ञानमार्गीयम्। यतो भगवत्स्वरूपव्यतिरिक्ते सर्वत्रारुचिरिति भक्तिवर्धिन्यां “स्नेहाद्रागविनाशः स्या”दित्यानि तथा स्फुटीकृतम्। ननु ज्ञानमार्गे वैराग्येण त्यागे कृते विषयाद्यभिलाषाभावात् देहेन्द्रियैः प्राकृतधर्मराहित्यं चित्तादिस्वास्थ्यं च भवति, प्रकृते त्यागादारभ्य प्रतिदिनं तथा भावने वैकल्यमस्वास्थ्यमेव सकलेन्द्रियेषु वर्धत इति प्राकृतविषयधर्मवत्वमेव लक्ष्यते, तत्कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्यय तद्धर्मस्वरूपमाहुः। बाह्यानुसन्धानराहित्यपूर्वकमन्तःस्वरूपानुभवसमानाधिकरणचेष्टितं यत्सकलेन्द्रियाणां तद्विकलत्वम्, बहिरपेक्षया विपरीतान्तर्भावरूपाः कलाश्चेष्टा येषां तेषां भावस्तत्त्वमित्यर्थः। **तथा** बहिः प्रियसङ्गाभावजनितात्यां सकलेन्द्रियाणां स्वास्थ्यभावोस्वास्थ्यम्। एतद्वयमपि विप्रयोगभावस्य **प्रकृतिः** साहजिको धर्मः। यज्ञा ज्ञानमार्गे **वैकल्याभावः स्वास्थ्यं** तस्य प्रकृतिः तथा पुष्टिमार्गे तद्विपरीतधर्मवत्वं तद्भावस्य प्रकृतिः। अनेन यावत्पर्यन्तं विकलत्वास्वास्थ्यदि

रूपा प्रकृतिः न सिध्यति, तावत्पर्यन्तं तद्भावस्यापि न पूर्णत्वमिति सूचितं भवति। अत एव तद्दाढ्यान्तरं पुनर्नाशाभावेन प्रयत्नाभाव उक्तः 'यावज्जीव'मिति भक्तिवर्धिन्याम्। ननु तर्हि विषयसम्बन्धित्वमायातमित्याशङ्क्यय तन्निराकुर्वन्ति प्राकृतं न हीति। प्रकृतिगुणविकारजन्यं तदुभयमपि न भवति। हीति निश्चयः। अयं भावः। पुरुषोत्तमस्वरूपं तु रसात्मकम्, रसो हि द्विविधः, संयोगविप्रयोगभेदेन, इति स्वरूपमपि तथा, तत्र संयोगे स्वरूपं बहिः प्रकटं भवति। विप्रयोगे भावात्मकतया तत्तदिन्द्रियेष्वश्लिष्टं सदन्तरेव रसपोषं करोति। परन्तु तापरूपेण स्थितत्वाददर्शने च तापं जनयति, इति तज्जनिततीक्ष्णभावभावनया पूर्वोक्तप्रकारेणान्तःस्वरूपानुभवे तदनुसारिचेष्टाकरणेन विकलत्वं बहिः प्रतीयते। दर्शनाभावेनास्वास्थ्यं चेत्युभयधर्मस्य रसात्मकभगवत्स्वरूपजन्यत्वेन रसात्मकत्वादलौकिकानन्दरूपत्वमेव। न तु प्राकृतत्वमिति सुष्ठूक्तं प्राकृतं न हीति। एतेन यथा यथा विकलत्वमस्वास्थ्यं स्यात्तथा तथा फलविलम्बाभाव इति सूच्यते। एतत्प्रकृतिं निरूप्य यथा (ज्ञान) मार्गे परित्यागानन्तरं सकलपदार्थस्फूर्त्या सर्वं ज्ञानं गुणाश्च भगवद्धर्मरूपात्मानुभवेन साधकास्तथा प्रकृतेऽपि तेषां साधकत्वमाशङ्क्यय साधकत्वस्य का सम्भावना, प्रत्युत बाधकत्वमित्याहुः ज्ञानमिति। एवं वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यरूपमप्राप्तस्य ज्ञानं बहिरनुसन्धानेन पदार्थस्फूर्त्या सर्वगुणा भगवल्लीलादिधर्मरूपाश्च कदाचित्प्रच्युतास्तेन व्यभिचारिभावानां वैचित्याद्वा हृदि स्फुरति, तदा मनस्तदवलम्बनं भवति। यथा महासमुद्रे मज्जतः तृणस्येव। तदा तज्जनितयत्किञ्चिदपि स्वास्थ्ये फले बाधका एव न तु साधकाः किञ्च, ये लीलागुणाः पूर्वं भावपोषणे साधकाः जातास्त एव गुणाः साम्प्रतमेतादृगवस्थायां जीवनसम्पादकत्वेन बाधका भवन्ति। एतेन विरहानुभवस्य पूर्णत्वेन जातत्वात् जीवनस्थितेः प्रयोजनाभावात्। अतः परं मूर्च्छादीनां दशम्येवावस्था फलसाधिकेति तेषां बाधकत्वमुक्तमिति ज्ञापितम्। एवं सति लीलादीनां धर्मरूपत्वेन बाधकत्वकथनात् केवलधर्मिस्फूर्तिरेव फलसाधिकेत्यपि ज्ञापितं भवति। ननु ज्ञानमार्गे ज्ञानगुणमनःस्वास्थ्यदीनां साधकत्वम्, भक्तिमार्गेऽपि कथं बाधकत्वमित्याकाङ्क्षायां मार्गभेदेन साधनफलभेदात् तथात्वमाहुः। सन्न्यासेन विशेषितात् सम्यक् साधितात् ज्ञानात् प्रथमं सत्यलोके स्थितिर्भवति। पश्चाद्ब्रह्मणा सह मुक्तिरुक्तेति ज्ञानानन्तरमेव सत्यलोकस्थितेः कथनात्तत्र मनःस्वास्थ्यगुणादीनामेव साधकत्वम्, तद्व्यतिरेकेण ज्ञानस्थैर्याभाव इति तेषां साधकत्वमुक्तम्। एतेन ज्ञानमार्गस्य साधनं फलमपि चोक्तम्। प्रकृते "भगवता सह संलाप" इत्याद्युक्तप्रकारकसाक्षात्स्वरूपसम्बन्धभावनैव साधनम्। तत्र च तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण स्वास्थ्यसम्भावने च स्वास्थ्यमेव फलसाधकम् नो चेत् फलमेव न भवेत्। तत्रापि यादृशी पूर्वोक्तप्रकारिकान्तर्भावना तादृशमेव सर्वेन्द्रियास्वाद्यं बहिरनुभवात्मकं फलमपि भवेत् न तु ज्ञानमार्गलाभान्मध्ये सत्यलोके स्थितिः पश्चादन्तरेव केवलमात्मलयमात्रमिति फलं चापि तथा भवेदित्युक्तम्। किञ्च,

लयोप्यक्षर एव, न तु पुरुषोत्तमे। सोपि ब्रह्मणा सहेति फलसिद्धौ महान् विलम्ब उक्तः। तत्रापि साधनफलभेदः। प्रकृते साक्षात्पुरुषोत्तमस्य रसात्मकत्वात् रसस्य संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्वाह्याभ्यन्तरभेदेन संयोगेविप्रयोगे च स्वरूपरसानुभव एव। न तु साधनफलभेदः। एवं सति विकलत्वास्वास्थ्य्यादिदशायाः पूर्वोक्तरीत्या साधनरूपायामपि साक्षात्स्वरूपानुभव एव भवतीति ज्ञानमार्गफलापेक्षया एतत्साधनस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वं निरूपितम्। ननु ज्ञानस्य फलं मुक्तिः सत्यलोकस्थितिः किमर्थं भवतीत्याशङ्क्याहुः। तादृशाः सन्न्यासविशिष्टपूर्णा ज्ञानयुक्ता अपि सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येवेति निश्चयः। अत्र संशयो न। यतस्तेषां तु ब्रह्मणा सहैव मुक्तिसम्भवात्तावत्पर्यन्तं तत्रैव स्थितेर्नियतत्वात् तत्र सा मर्यादास्तीति। आदिपदेन तादृशत्वाभावे लोकान्तर एव स्थितिः। ननु तत्रापि फलसिद्धौ महान् विलम्बो निरूपितः। प्रकृते तादृगवस्थायां यदि गुणाद्यनुसन्धानं न भवेत्तदा तत्कालमेव फलसिद्धिरिति तत्प्रकारं निरूपयन्ति बहिरिति। पूर्वोक्तभावनया भगवान् एव स्फुरतीत्यर्थः। स चेदतिविगाढभावेन तदात्मकतया गुणगानद्वारा साक्षाद्बहिः प्रकटो भूत्वा रसानुभवं कारयित्वा पुनस्तिरोहितः प्रचुरतापात्मकः सन्नन्तःप्रविशेत्, तदैव तत्क्षणमात्रेणैव सकलो बन्धः प्राकृतदेहरूप एव बहिः साक्षात्फलानुभवे प्रतिबन्धः स तादृशप्रचुरतापेन मूर्च्छादिदशमावस्थां नाशमेति। तत्र दृष्टान्तः वह्निवत् यथा दार्वन्तर्गतो वह्निः सदैव तिष्ठति, परन्तु दारुदहनोपयुक्तो न भवति। यदा पुनर्मथनेन बहिः प्रकटो भवेत्, तदा तत्सम्बद्धः सन् तदन्तःप्रविश्य क्षणेनैव सर्वं दार्वंशं प्रज्वालयति। न केवलं तावन्मात्रम्, किन्तु तत् स्वसदृशमपि करोति, तथा अयमपि स्वात्मरूपत्वेन तदन्तर्गतो विगाढभावेन मथनेनैव तथा भूत्वा पुनस्तिरोभूयान्तस्तापरूपेण प्रविशेत्तदा तं तथा कृत्वा स्वसदृशीं रसात्मकतामलौकिकवयोगुणादिसम्पत्तिमपि करोतीति दृष्टान्तधर्मसाम्येन सूचितं भवति। एवं सति यथा दारुण्यार्द्रत्वं यदि भवेत्तदा सोप्यसमर्थो धूममेव जनयति, तथा प्रकृते यत्किञ्चित्स्वास्थ्यस्यार्द्रत्वस्थानीयत्वात् धूमवद्गुणगानादिकमेव भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सः न तु बन्धनिवित्तिरित्याशयेनोक्तं 'न चान्यथे'ति। एतत्प्रकाराभावे न भवतीत्यर्थः। एतत्सर्वं फलप्रकरणीयद्वितीयाध्याये "गायन्त्य उच्चै" रित्यस्य विवरणे "शब्दो हि धूमवल्लोक" इत्यादिना निरूपितम्। एतेनास्वास्थ्य्यादावेव फलविलम्बाभाव इति तदेव साधकम्, न गुणादिस्फूर्तिरिति पूर्वाशङ्कानिरस्तेति भावः। ननु विप्रयोगस्य केवलमस्वास्थ्यैकप्रकृतिकत्वात् तदुत्तरक्षण एव प्रतिबन्धनिवृत्तिं कथं न करोति। मध्ये गुणाद्यवलम्बनं कारयति। अत एवोक्त "मन्तर्हिते भगवती" त्यस्य विवरणे "यावत्स तापोन्तः प्रविशेत् तावता भगवल्लीला प्रविष्टे"ति। तत्प्रवेशे तस्य तदेकस्वभावात्। तदनुभवाभावो यतः। एवं सति विप्रयोगभावार्थं जीवनसम्पादकत्वेन गुणानां साधकत्वं तस्मिञ्जाते प्रयोजनाभावात्तादृगवस्थायां

१ एतत्प्रकारभावेन भवतीति पाठः।

स्वास्थ्यकारकत्वेन बाधकत्वमिति न कोपि विरोधः। अत एव ज्ञानं गुणाश्चेति पूर्वं बाधकत्वमधुना गुणास्त्वियनेन साधकत्वं चोक्तम्। एतेन भगवतोपि बाधकाभावो निरूपितः। एवं गुणानामवस्थाभेदेन बाधकत्वसाधकत्वनिरूपणात् भगवतो बाधकत्वाभावं निरूप्यातः परमपि चेदुणाद्यवलम्बं स्थापयेत्, तदा स्वास्थ्ययुक्तत्वात् बाधकत्वं भवेदिति तदभावमाहुः। एवं सम्पूर्णे विरहानुभवे जाते बहिःसाक्षात्फलदानार्थं यतो भगवान्लौकिकैश्वर्यवीर्यगुणादिसकलस्वोपयोगशक्तिसहितं स्वरूपं कृत्वा स्थितो भवति। अतः फलरूपत्वात्स्वस्य अत्र दशायां फलबाधको गुणाद्यवलम्बो नेष्यते, भगवता नेष्यत इत्यर्थः। अयं भावः। फलानुभवार्थं भक्तस्य यावती परीक्षा भगवतः कर्तव्या भवति, तावती सर्वा विरहानुभवेन सम्पन्ना जातेत्यतः परमपि फलविलम्बे जाते स्वस्यैव बाधकत्वं भवेत्, तदधिकारस्य जातत्वात्। अतः सुष्ठूक्तं नात्रेति। ननु तादृगवस्थायामपि तादात्म्यकतया यथा प्रियेण सह भाषणादिकं प्रियाया भवति, तथा तादृशभावनया प्रियस्यापि तत्सम्भवतीति तदेव वाक्यं स्वास्थ्यकारकं भविष्यति। अथवा 'हा नाथे'त्यत्र क्रियाशक्त्या तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकरणम्, तथा प्रकृते चापि वचनेनापि तत्सम्भवतीत्याशङ्क्यय तत्राहुः स्वास्थ्येति। यद्यपि पूर्वावस्थायां तथा करोति, तदनन्तरं तदपि स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यमिति न करोति, प्रयोजनस्य जातत्वात्। अत्र हेतुः। दयालुरिति। अतो न विरुध्यते। विरोधित्वेन न भूयत इत्यर्थः। विरोधी स एव यः परस्यानिष्टं करोति। अयं परमदयालुरिति सकलेष्टसिद्धिं कृतवानिति भावः। एवं सति तादृशस्य स्वरूपस्थितौ गानम्, लीलाप्रवेशे प्रलाप इति मूर्च्छा तदवस्थया निरूप्यते। अतः परं दशमावस्थायाः पूर्वोक्तप्रकारेण प्रतिबन्धनिवृत्त्या फलसिद्धिरिति सर्वमवदातम्। एतदेव सर्वं फलप्रकरणेपि निरूपितम्, विरहानुभवेन परीक्षानन्तरं "रुरुदुः सुस्वर"मित्यारभ्य "तन्वः प्राणमिवागत"मित्यादिना। एवं स्वमार्गीयपरित्यागस्वरूपं निरूप्य, अस्य दुर्लभत्वमाहुः। अयमिति स्वरूपनिर्देशः। तथा चेद्दूदग्रूपः परित्यागः, साधनासाध्यत्वादिति दुर्लभः। तर्हि कथं सिध्यति तत्राहुः प्रेम्णेति। श्रीमदाचार्योक्तनिष्ठयासाक्षात्स्वरूपसेवाकरणेन। तत्स्वरूपे प्रेमासक्तिव्यसने सम्पन्ने चैतत्परित्यागाधिकार इति तदा सिध्यति, नान्यथा। अन्यसाधनप्रकारेण नेत्यर्थः। अत एव दुर्लभप्रेमासक्तिजनितस्वरूपसम्बन्धाभिलाषजन्यदुःखं तेन लाभो यस्येति तथा निरूपितम्। अथवा। प्राकृतस्याप्राकृते प्रेमासम्भव इति तद्धेतुं पक्षान्तरेणाहुः प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा इति। श्रीमदाचार्याङ्गीकारवशेन स्वरूपानन्ददानोपयोगि प्रेम भगवतस्तस्मिञ्जायत इति तस्यापि तत्सम्भवतीति तथोक्तम्॥७-१३ १/२॥

एवं स्वमार्गीयकर्तव्यविधिं निरूप्य तारतम्यज्ञापनार्थं ज्ञानमार्गीयतद्विधिं निरूपयन्ति ज्ञानमार्ग इति।

ज्ञानमार्गे तु सन्न्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥

अतः कलौ स सन्न्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्न्यसेत्॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः॥१६ १/२॥

ज्ञानमार्गे तु सन्न्यासो मया द्विविधो विचारितः। तदेव द्वैविध्यं विचारपूर्वकमाहुः। एकः सन्न्यासः ज्ञानसाधनार्थं, अपरः ज्ञानोत्तरं मुक्त्यङ्गमित्यर्थः। तत्र सन्न्याससिद्धिस्तु जन्मशतैः अनेकशतसहस्रजन्मानन्तरं भवति। न तु शीघ्रम्। तत्र हेतुः। ज्ञानमिति। ज्ञानोत्तरं सन्न्यासाधिकारः। तत् ज्ञानं च साधनापेक्षम्, साधनं चित्तशुद्धिः तदपेक्षा। तत्पुनर्यज्ञादिश्रवणान्मतं सम्मतम्, नान्यथा। आदिपदेन तपआदीन्यन्यान्यपि ज्ञेयानि। तत्रापि निष्कामत्वेन कृते चित्तशुद्धिः। तत्रापि बहुजन्मानन्तरम्। अत एवोक्तं बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवतीति। कदाचित् ज्ञाने जातेपि सत्यलोकस्थितेरावश्यकत्वान्मुक्तेर्विलम्बः एवेति सिद्धिर्जन्मशतैरपीत्युक्तम्। एवमुत्तराङ्गसन्न्यासं साधनफलसहितं निरूप्य, अत्रापि ज्ञानसाधनार्थं स चेद् भवेत्तदा तस्य फलासाधकत्वं विपरीतफलकत्वं चाहुः। यतः पूर्वोक्तसन्न्यासाधिकारो यज्ञादिकरणेन शतसहस्रजन्मानन्तरं चित्तशुद्ध्या ज्ञाने जाते भवति अतः कलौ चित्तशुद्ध्यभावेनैव कृतः सन्न्यासः पश्चात्तापायैव भवेत्, न त्वन्यथा। उक्तफलाय नेत्यर्थः। सकलेन्द्रियाणां कलिकालाधीनत्वे स्वस्वविषयासक्तत्वात्तत्यागे तेषां लोलुपत्वेन स्थैर्याभावात्। मया वृथैव सन्न्यासः कृत इति पश्चात्तापो भवेदिति भावः। केवलं पश्चात्तापमात्रमेव न भवेत्, किन्तु क्रमेण विषयासक्त्या वेषमात्रपर्यवसायित्वमपि। तदाहुः पाषण्डित्वमिति। अन्तर्विषयासक्तिर्बहिस्तदाश्रमवेषमात्रं पाषण्डस्तद्युक्तत्वं भवेत्। चकारादारूढपतितत्वजनितं पापमपि भवेदित्यर्थः। तस्मादनिष्पर्यवसानात् ज्ञाने ज्ञानसाधनार्थं न सन्न्यसेदिति भावः। नन्वेवं निषेधः कथम्। कश्चित्समीचीनः स्वेन्द्रियनिग्रहादिना तमर्थं साधयति चेत्तत्राहुः सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः॥१४-१६ १/२॥

भक्तिमार्गेपि तेषां बाधकर्तृत्वं सम्भवेदित्याशङ्कां स्वयमेवोद्धाटयन्ति।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः॥

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥

भक्तिमार्गोपि चेत्यागिनः पूर्वोक्तदोषः प्रसज्येत तदा किं कार्यमिति प्रश्नः। तत्रोच्यते, ससाधनमित्यर्थः। तदेवाहुः अत्रारम्भे। भक्तिमार्गीयत्यागारम्भे। यद्यपि आरम्भभेदेन विरहानुभवानन्तरं प्रचुरभावावस्थाभावसमयो ज्ञाप्यते, तथापि पुनर्नाशो न स्यात्। यतस्तस्य पूर्वमेव सकलेन्द्रियाणां भगवदधीनत्वात्, तत्रैव विनियोगकरणेन भगवत्स्वरूपैकनिष्ठविषयव्यसनवत्वमेव जातम्। न तु प्राकृतविषयग्रहणस्वभावोपि स्थितः, तत्तदभावे कुतः तत्तद्दोषसङ्क्रमणावकाश इति भावः। एतेन तादृशभावस्यापि फलान्तःपातित्वमेव, न तु साधनत्वमिति ज्ञापितम्। ननु तथापि विषयभोगपदार्थेषु दृष्टेषु यत्किञ्चित्स्वास्थ्यं भवेदपि दृष्टो योऽन्तः नाशकः पदार्थः तस्याप्यभावान्न नाश इत्यर्थः। पदार्थे दृष्टे कदाचित्सम्भवेदपि, प्रकृते व्यसनानन्तरं गृहस्थितेर्बाधकत्वं मत्वैव तत्पदार्थानां त्यागः कृत इति दर्शनस्याप्यभावात् तथेति भावः। अत एव “यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे” इत्युक्त्वा “तादृशस्यापि सतत”मित्यनेन तस्य त्याग उक्तः। ननु तथापि वासना चेत्तिष्ठति, तदपि तथा भवेदिति तदभावमाहुः स्वास्थ्यहेतोरिति। स्वास्थ्यहेतुपदार्थस्य परितस्त्यागाद्वासनासहितत्यागः परित्यागः, वासनया विषयग्रहणं भवति, तदभावाद्बाधः केन पदार्थेनास्य सम्भवेत्। अपि तु न केनापीति भावः। वासनासहितत्यागकथनेन दृष्टेपि तस्मिन् न तद्ग्रहणमिति सूचितम्। अनेन पदार्थास्तादृशस्य स्वास्थ्यहेतवोपि न भवन्ति, किन्तु भगवत्स्वरूपनिष्ठा एवेति ज्ञापितं भवति। एतदेवोक्तं निरोधवर्णने “बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यती”ति। ननु तर्हि अदृष्टादिना स कदाचित्सम्भवेत् तत्राहुः। यद्यपि हरिः कालकर्मादीनामपि सर्वेषां नियन्ता सर्वेश्वरः, तथापि तादृगवस्थानन्तरं स्वस्य रसात्मकत्वेनैव तादृशस्य विलम्बजनितबाधां कर्तुं न शक्नोति। तत्करणे न रसो न वा कीर्तिः, यतः स्वयं हरिः एतादृगवस्थाजनितदुःखं हन्तुमेव रसात्मकसाक्षात्फलरूपत्वेन प्रकटः। एतदेव “पीताम्बरधरः स्रग्वी” त्येतस्य विवरणे विवृतमित्यत्रापि हरिपदेन स एव भाव उक्त इति ज्ञापितं भवति। एतेनेदानीं बाधाकरणे स्वस्य फलरूपं हरित्वं च गच्छतीत्यत्रापि हरिपदेन स एव भाव उक्तः। तद्बाधोत्कर्षश्च निरूपितः। अत एव “न पारयेह”मित्यादिवचनम्। एवं सति हरिरेव न शक्नोति तर्हि अपरे कालकर्माद्यदृष्टादयः कुतः शक्ता भवन्तीत्यर्थः अशक्तौ दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति। यद्येतादृशस्यापि हरिर्बाधां करोति, तदा मातरोपि स्वबालान् स्तन्यैः पोषणं न कुर्युः। यथा तासां स्वबालबाधकरणमशक्यम्, किन्तु पोषणमेव कुर्वन्ति, तथा हरेरपीति भावः। एतेन हरिरपि तत्पोषणमेव करोतीत्यपि सूचितम्। अथवा

हरेर्मातृदृष्टान्तकथनात् युक्तत्वानुपपत्तेः क्रियायाश्च विध्यर्थकस्यापेक्षितत्वात् पुपुषुरिति भूतार्थकतत्प्रयोगानुपपत्तेश्च कश्चन गूढाभिसन्धिरस्तीति लक्ष्यत इति पक्षान्तरेण स एवोच्यते। तथाहि। हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामित्यत्रासाधारणो हेतुः, यतो मातरः पुपुषुः इत्यन्वयसम्बन्धः। अयं भावः। पूर्वं श्रीमद्गोपिकानां गुरुत्वमत्र निरूपितमिति गुरुत्वात्ता एव मातृरूपा ज्ञेयाः। यथा गुरोर्वरदाने फलसिद्धिः तता तासां दान एव तावतैव सिद्धिः **नान्यथेति**। तास्तादृशे अङ्गीकृते स्वभावपोषणं कृतवत्यः अतस्तत्कृतौ प्रभोरपि शक्त्यभावो युक्ततमः, तद्भावाधीनत्वादिति भावः। ननु ता एतावत्किमर्थं कुर्युरिति चेत्तत्राहुः। **अन्यथेति**। यद्येता एव स्वस्य गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वेपि सिद्धे एव पोषणं न कुर्युस्ततस्ताः अन्याः साधारण्यः सहजकठिनाः स्त्रियः। तास्तु मातरः स्वबालान् स्तन्यैर्न पोषयेयुरित्यर्थः। एतेन यदि ता अप्येवं कुर्वन्ति पुत्ररूपे तस्मिन्, एतासां परमवात्सल्यस्वभावात् पोषणं युक्तमेवेति निरूपितम्। एतदेवोक्तं निरोधवर्णने “पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः”। एवं सति पूर्वोक्तानुपपत्तिद्वयमपि निरस्तं भवतीति सर्वमनवद्यम्। अत्र दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च **मातर** इत्यस्यावृत्तिः कर्तव्या। ननु यथा ज्ञाने स्वस्मिन् ब्रह्मभावस्फूर्त्या सर्वत्र ब्रह्मात्मकत्वभानादैक्यमेव भासते, नतु द्वितीयपदार्थभानम्, तेन च तेषां सर्वदा स्वास्थ्यं तिष्ठति, तथा प्रकृतेपि स्वस्मिन् भगवदावेशे नासावहमित्यादिरूपज्ञाने केवलं तदैक्यभानमेव, न द्वितीयपदार्थस्येति **ज्ञानमार्गीयैक्यप्रतिपादकवाक्येन** ऐक्यसाम्येन कदाचिदैक्यभावजनितमोहेन स्वास्थ्यं सम्भवेदित्याशङ्क्यय तदभावमाहुः। पूर्वोक्तैतावत्प्रत्येकप्रत्यूहेषु सत्स्वपि यदि तन्निवारणेनैतावत्पर्यन्तं तद्रक्षामेव कृतवान् प्रभुः, तदा ज्ञानिनामपि वाक्येनैक्यप्रतिरूपेण भक्तं तादृशं न मोहयिष्यति। तथा चोक्तं भ्रमरगीते श्रीमदुद्धवोक्तैः “श्रूयतां प्रियसन्देशः” “भवतीनां वियोगः” इत्याद्यैक्यप्रतिपादकज्ञानिवाक्यैस्तासां **मोहो न जातः**, किन्तु तच्छ्रवणेन प्रत्युतातितप्ततैलपतितजलबिन्दुवत् प्रचुरतीव्रविरहाग्निज्वालजालज्वलितास्ता अभवन्निति। प्रकृतेपि तादृशावस्थायां तथा न करिष्यति, प्रत्युत तद्रीतिमेव करिष्यतीति भावः। नन्वेवं सर्वथाऽस्वास्थ्यकारकं तापमेव कथं स्थापयति, तत्र हेतुमाहुः **आत्मप्रदः प्रियश्च**, अतः **किमर्थं मोहयिष्यति**। अयं भावः। अत्र भगवान् रसात्मकः साक्षात्स्वरूपानन्ददानार्थम्, मुख्यतस्तत्र प्रीतिरूपो गुणश्च हेतुः। स वै तादृशावस्थाभावे पुष्टो न भवति, किन्तु च्युत एव तिष्ठति, तत्पुष्टत्वाभावे तद्दानमपि न सिध्यति, रसात्मकत्वादेव साम्ये सर्वदा स्थापयति। एवं सति यत्र भगवतः स्वरूपानन्ददानेच्छा प्रियत्वं च, तत्र तद्वाक्यजनितमोहो न भवति यत्र नैतदुभयम्, तत्र मोहो भवतीति सूच्यते। तथा चोक्तं दशमस्कन्धे “द्विजपत्नीषु तदानन्ददानेच्छाभावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वाभावाच्च न प्रीतये अनुरागाये”त्यादिज्ञानिवाक्यजनितमोहो जातः। यतः ताः परावृत्य स्वगृहानगमन्। फलप्रकरणे तु श्रीस्वामिनीनां सर्वत्यागेनागमनपूर्वकमनन्तरमेव पूर्ववदेव “श्रवणाद् दर्शना”दित्यादिवाक्यैः स्वात्मदानेच्छासद्भावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वस्यापि

विद्यमानत्वान्मोहो न जातः, प्रत्युतेश्वरवाक्यानां सर्वाधिकबलत्वेपि तन्निराकरणं चक्रुरिति सुष्ठूक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति। अतः परमेतावदुक्तस्य निर्गलितार्थमाहुः। यस्मात्साधनार्थपरित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ?। अन्यथा पुष्टिमार्गीयभावाभावे तस्मिन् कृते स्वार्थात् पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थाद्भश्यते च्युतो भवतीत्यर्थः। अत्र प्रमाणमाहुः **इति मे निश्चिता मतिः। इति** यस्य धर्मस्य यथा स्वरूपं तत्स्वरूपज्ञानादेव तस्मिन्निश्चयः। स्वमतेरेवेति स्वस्यैव मतिः प्रमाणत्वेनोक्ता॥१७-२१॥

एवं सन्यासनिर्णयं कृत्वोपसंहरन्ति।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।

सन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

इत्येवं प्रकारेण भक्तौ सत्यां एव सन्यासवरणं कर्तव्यत्वेन निश्चितम्। तत्र हेतुभूतं साधनद्वयमाहुः **कृष्णप्रसादेन वल्लभेन चेति। कृष्णपदेन** रसानन्दात्मकगूढभावात्मत्वं सूचितम्। तादृशस्य प्रसादेन, प्रसादस्यापि नैकविधत्वं सम्भवतीत्युक्तं वल्लभेनेति, अतिप्रियेणेत्यर्थः। एवं एतेन भावात्मकप्रीतिगुणविशिष्टत्वं प्रसादस्य ज्ञापितम्। तादृशत्वाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानमेव न भवेत्, निश्चयः कथं कर्तुं शक्यः। तत्रापि विशेषेणोदमित्थतयेति मदुक्तस्य सन्देहो न कार्य इति निरूपितम्। निश्चयकरणप्रयोजनमाहुः अन्यथेति। एतत्करणाभावे परित्यागस्वरूपाज्ञानात् अधिकाराभावे कृते त्यागे स्वाङ्गीकृतोपि पतितो भवेत्, पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गाद्भ्रष्टो भवेदित्यर्थः। एवं सति परमकारुणिकस्वभावात् स्वकीयानां रक्षैव कृतेति भावः॥२२॥

श्रीमदाचार्यकरुणां वर्णयापि कथं यतः।

यतः स्वतस्त्यागभावप्रकाशं मादृशेऽकरोत्॥१॥

यथेमे ज्ञापिता भावाः स्थापयतु स एव तान्।

यादृशस्तादृशः स्वीयस्त्वदेकशरणं विभो॥२॥

यदत्र मन्मतेर्दोषाद्विरुद्धं प्रभवः स्वतः।

क्षमन्तां तत्र च तवाश्रयणं शरणं मम॥३॥

इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपेशविरचितं

सन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम्॥

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सन्यासनिर्णयः।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेतः।

विविधविरहभाववेशजक्लेशभाजामनुभवविषयः सन् गोपिकानां कृपाब्धिः।

कलयति निजरूपानन्दपीयूषपानं सकृदपि स कृतार्थं मां प्रसन्नः करोतु॥१॥

श्रीगोपिकाधीशपथानुगानां सेवाकथासक्तिसमर्थनाय।

य एक एवास्ति विभुस्तमेव श्रीवल्लभाख्यं मुहुराश्रयेहम्॥२॥

श्रीमद्वल्लभसूनोः श्रीविठ्ठलनामधेयस्य।

पदकमलद्वयममलं मनसि मदीये समुल्लसतु॥३॥

स्वाचार्यचरणपङ्कजपरागपुरुषागपरभागान्।

अभिवन्दे पितृचरणानहमतिभक्त्या तदाप्तमतिः॥४॥

अथाम्नायाद्यखिलप्रमाणप्रतिपन्नरसात्मकश्रीपुरुषोत्तमविरहानन्द विविधभाववृन्दानुभवस्य सर्वात्मभावप्रपत्तिमात्रप्राप्यत्वात् सर्वपरित्यागमन्तरेण तदसम्भवादावश्यको भक्तिमार्गे परित्यागः, स च कर्मज्ञानभक्त्यादिमार्गभेदाद्विभिन्नरूप इति स्वमार्गीयपरित्यागमतिवि लक्षणमनाकलयतां तत्तत्संशयवशंवदानां निजमार्गाङ्गीकृतजीवानामविचारितः परित्यागः पश्चात्तापायैव भवितेति सकलसंशयापनुत्तिपुरः सरं तदपगमाय स्वभक्तेषु परमानुपमकृपाकिर्मीरितमूर्तयः श्रीमदस्मदाचार्यचरणाः किञ्चित्प्रयोजनं प्रकटमुदीरयन्तस्तद्विचारप्रतिज्ञामाचरन्ति पश्चात्तापनिवृत्यर्थमिति।

पश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यते।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥

भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलमितरत्तत्सम्बन्धित्वेनैव तथात्वेनोच्यत इति राद्धान्तात् तस्य च “रसो वै स” इत्यादिश्रुतिभ्यो रसत्वेन सिद्धत्वादुभयविधमुख्यरसात्मनः स्वमार्गपतेः स्वरूपानन्दं श्रीमदाचार्यवर्यवरण वशात्प्रभुसेवादिपरतया सुखं गृहादिषु सतां संयोगप्रकारेण यथाधिकारमनुभवतामपि विप्रयोगप्रकारेण तदनुभवाभावादन्तरेवोन्मिषद्भिरनन्तविधैरभिलाषैः

सन्ततं दन्तुरितस्वान्तानामस्माकं शुद्धपुष्टि मार्गाचार्य
सम्बन्धिनामपिस्वमार्गमुख्यफलविप्रयोग भावानुभवो न भविष्यति। तस्य
सर्वात्मभावान्तर्गत सर्वत्यागसाध्यत्वादस्मासु तज्ज्ञानस्याप्यभावेन क्व
तदाचरणतत्फलादिसम्भावनानापीत्येवंरूपो य उत्कटस्तापः स पश्चात्तापपदेनात्रोच्यते।
यतोयमुररीकृतमुररिपुमार्गनिपुणतराणामाचार्यवर्यपदपद्मप्रसादजुषामेवाधिह
दयमुदयमासादयति, न पुनः साधारणानाम्, तन्निवृत्तिश्च
भक्तिमार्गप्रवर्तकश्रीमदाचार्यचरणैकसाध्येति। तदर्थं **परित्यागः** सन्न्यासः स्वमार्गीयः
श्रीमदाचार्यचरणैर्विचार्यते। स्वरूपतः फलतः सम्यक्तया मार्गान्तरीयतदसङ्कीर्णत्वेन
निरूप्यत इत्यर्थः। तथा च वक्ष्यमाणविधया विचारितं स्वमार्गीयसन्न्यासस्वरूपादिकं
सम्यगवगम्य भगवदङ्गीकाराधिकारतारतम्यभाजस्तत्र प्रवर्तमाना
विगलितपश्चात्तापास्तदनुरूपं फलमनुभविष्यन्तीति भावः। यद्वा। भक्तिज्ञानयोः
सिद्धदशायामेव सन्न्यासः साधीयान्, न साधनदशायां, तदा तादृशवैराग्यविरहेण
कृतस्यापि तस्यानिर्वाहात् पश्चात्ताप एव पर्यवसित इत्येतत्तारतम्यानवगमे
त्यक्ताखिलानामपि भक्तानां पश्चात्तापः, तद्दर्शनेन स्वस्यापि स स्यादिति
तदनुत्पत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः। अथवा, जीवानां प्रभुप्राप्त्यर्थं
भक्तिमार्गमाविष्कृतवद्भिः श्रीमदाचार्यचरणैरवश्यं स्वमार्गीयः परित्यागोपि
मुख्यफलसिद्ध्यर्थं प्रागेव निरूपणीयः। स तदैव न कथं निरूपितः। किमिति विलम्बः
कृत इति यः पश्चात्तापो भवेत्तदपगमाय परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः। ननु विचारविषयः
परित्यागः कर्तव्यतया क्वाभिहितस्तदनन्तरं तन्निर्णयवार्तेत्याकाङ्क्षायामाहुः **स**
मार्गद्वितय इति। **स** परित्यागो **मार्गद्वितये भक्तौ ज्ञाने विशेषतः**
विलक्षणफलसाधकत्वलक्षणाद्व्यावर्तकधर्मतः प्रोक्तः, श्रुतिश्रीभागवतादिष्वभिहित
इत्यर्थः। अत एव “सन्त्यज्य सर्वविषया” नित्यादिषु यः सर्वत्यागः श्रीब्रजस्थभक्तेषु
स पर्यवसितविप्रयोगानुभवफल एव, ज्ञानमार्गीयेषु तु स नैवंविधः,
किन्त्वपवर्गपर्यवसायी। यद्वा, विशेषः परिपाकदशा भक्तिज्ञानयोस्तदनन्तरमेव
परित्यागः प्रोक्तः। अन्यथा तद्धर्मनिर्वाहाभावेन दोषविशेषपर्यवसानापातात्। विशेषत
इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशापन्नत्वं प्राप्येति
वार्थः। अथवा, विशेषत इत्यस्य प्रत्यासत्तिवशाज्ज्ञान इत्यनेनैवान्वयः।
इत्थञ्चैकजन्मनि परित्यागेन ज्ञानमार्गे मुक्त्यभावाद्नेकजन्मसु तत्करणमेव
विशेषपदार्थोवसेयः॥१॥

नन्वेवं कर्ममार्गेपि परित्यागकरणे किं बाधकमित्याशङ्कायां तन्निषेधमाहुः
कर्ममार्गे न कर्तव्य इति।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥

कर्ममार्गे हि सकामनिष्कामभेदेनानेकविधकर्मकरणरूपः,
तथाविधश्रुतिनिरूपितः, तस्मिन्परित्यागो निरवकाश इति न कर्तव्यः। न च “यदहरेव
विरजे”दिति श्रुत्या बोधितत्वात्परित्यागः सति निर्वेदे दुर्वार इति वाच्यम्। कर्ममार्गस्य

कलत्रादिकलनाकन्दलितकामनाकलापस्य निर्वेदोदयनिदानभावायोगात्। न च निष्कामकर्मकरणं मनोमलिनिमानमपनीय विरक्तिमुत्पादयिष्यतीति वाच्यम्। तत्रापि सहधर्मिणीसाहित्यनैयत्येन तत्प्रत्यूहानपायात्। न च निष्कामकर्मकरणमेव सन्न्यास इति वाच्यम्। कर्मत्यागस्यैव तथात्वौचित्यात्। न च काम्यकर्मत्यागमादाय तथात्वं शक्यवचनम्। सङ्कोचे मानाभावात्। क्वचित्तस्मिन्नपि तत्प्रयोगस्यौपचारिकत्वात्। मुमुक्षूणां सर्वतत्यागदर्शनाच्च। न च मुमुक्षुषु जीवन्मुक्तेषु च तत्कर्मकृतिव्यापृतिरुक्तैवेति वाच्यम्। भगवन्नियोगेनैव तेषु लोकसङ्ग्रहाद्यर्थत्वात्तस्याः। किञ्चास्तामन्यद्वाधकम्, काल एव बलवद्वाधकस्तत्रेत्याहुः **सुतरां कलिकालत** इति। कलिकालस्तावद्भगवद्भजनस्यैव साधकस्तदतिरिक्तस्य बाधक एवेति तत्र तत्र सिद्धम्। तथा च तथाभूतात्तस्मादनिर्वाहप्रत्यवायादिकं प्रतीत्य कर्ममार्गे सुतरां सन्न्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः। एतेन काम्यकर्मत्यागलक्षणो गौणोपि त्यागः प्रत्युक्तः। मुख्याङ्गत्वात्कालो निर्दिष्टः, परमयं देशादीनामप्युपलक्षकः। तेन कलौ देशकर्त्राद्यशुद्ध्यापि न परित्यागः कर्ममार्गे सिध्यति। अत एवायुषस्तुर्यभागे सन्न्यास इति मतमपि वैराग्यं विना तदसम्भवेन भक्तिज्ञानपरिपाक एव तद्दाढ्येन तत्रैव सावकाशमिति कालादिदोषाच्च कर्ममार्गे निरवकामिति ध्येयम्। एवं कर्ममार्गे परित्यागं प्रतिषिध्य भक्तिज्ञानमार्गयोः कर्तव्यतया परिशेषिते तस्मिन् प्रथमं कुत्रत्ये विचारः कार्य इत्यत्राहुः अत आदाविति। यतः कर्ममार्गे बाधध्रौव्यात् परित्यागो न कर्तव्योतो भक्तौ ज्ञाने च कर्तव्यतया तद्विचारस्य प्राप्तौ स्वस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वात् भक्तेः प्राथम्याच्च सिद्धदशायां च तस्य कर्तव्यत्वादादौ भक्तिमार्गे परित्यागस्य विचारणा। भक्तिमार्गे किं साधनदशायामेव परित्यागः कार्यः, किं वा फलदशायामाहोस्विदुभयत्र वेतिरूपा क्रियत इति शेषः॥२॥

ननु भक्तिमार्गे परित्यागः स्थापितश्चेत्तदा साधनदशायामपि स कर्तव्य इत्याशङ्क्यय सहेतुकं तदनङ्गीकारमाहुः श्रवणादिप्रसिद्धयर्थमिति।

श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात्॥३॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मेश्च विरोधतः।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥४॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः॥५॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥

श्रवणादीनि यानि साधनरूपाणि तेषां प्रकर्षेणाव्यग्रतया सिद्धिर्निष्पत्तिर्गृहादिषु व्यासञ्जकेषु न सम्भवतीति तदर्थं स परित्यागः कर्तव्यश्चेत्, नेष्यते नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः।

श्रवणादीनां प्रसिद्धिरुत्कृष्टफलं तदर्थं परित्यागः कर्तव्यश्चेन्नाङ्गीक्रियत इति वार्थः।
कु त इत्याकाङ्क्षायामाहुः **सहायसङ्गसाध्यत्वादित्यादि**। गृहादिषु
तत्कार्यव्यासङ्गस्यानिवार्यत्वादेकान्ततः श्रवणादिसाधननिर्वाहो न भवतीति त्परित्यागेन
क्वचित्तच्चित्तैकाग्रेण सम्पादनीयमिति मनसिकृत्य यस्त्यागः स कथमुपपद्यतां,
यतः श्रवणादीनि सहायसङ्गसाध्यानि, सहायाः कथकादयो विविधस्वभावाः, तेषां
सङ्गः सद्भावेन तदुपसत्तिरूपः तेन सम्पा
द्यान्यतस्त्यागानन्तरमावश्यकस्यासङ्गत्वादेर्भङ्गप्रसङ्गतः प्रशिथिलवैराग्यात्
पुनस्तत्तदाकाङ्क्षोन्मज्जनेन च न श्रवणादिसाधनार्थं परित्यागः शक्याभ्युपगमः। किञ्च,
त्यागमात्रान्न कार्यसिद्धिरिति श्रवणादिसिषाधयिषोस्तत्साधनानां तत्तदवसरे उपेक्षितानां
रक्षणं कर्तव्यं, ततस्त्यागः कथं लब्धात्मकः स्यात्। अपि च साधनमार्गीयस्य
कृतेपि त्यागे तत्तत्पदार्थेषु श्रवणाद्यर्थमपेक्ष्येषु नाभिमानो निवर्तते, प्रतिक्षणमुदेत्येव,
त्यागे च स निवर्तनीयः सर्वथेति तत्सत्त्वे स न युज्यते। साधनदशायां
वेदाज्ञारूपभगवन्नियोगाच्च वर्णाश्रमधर्माणामुल्लङ्घनं न शक्यमित्यशक्य एव त्यागः।
अन्यच्च, श्रवणादिसाधनानां **तद्धर्मै** परित्यागधर्मै पर्यटनादिभिः समं विरोधो न
शक्यविधूनन इति न कथमपि साधनभक्तिरूपश्रवणादिषु परित्यागः सम्भवति। ननु
तथापि गृहादिकं सत्सङ्गासम्पादकतया श्रवणादिषु प्रतिपक्षभूतमतस्तदर्थं
तत्परित्याज्यम्, तथा सति कदाचित् सत्सङ्गोपि स्यादित्याशङ्क्यय समाधानमाहुः
गृहादेरिति। **बाधकत्वेन** श्रवणादिविरोधित्वेन। साधनार्थं श्रवणाद्यर्थम्। **तथा यदि**
परित्यागश्चेत्। तदा **अग्रेपि** त्यागानन्तरमपि तथाविधदाढ्याभावात्तादृशैरेव
परित्यक्तश्रवणादिपरिपन्थिगृहादिसदृशैरेव सङ्गो भवति, **अन्यथा** प्रकारान्तरेण
गृहादिपरित्यागरूपेण श्रवणादिकं तु न भवतीत्यर्थः। ननु भवतु
भवनादिपरित्यागकर्तुस्तादृगपरसङ्गः, तथाप्यन्तरुद्धतवैराग्यादिनैव श्रवणादिनिर्वाहो
भविष्यतीति न तत्त्यागोनुचित इति चेत्, तत्राहुः **स्वयं** चेति। यदि वैराग्यमन्तर्जागरूकं
भवेत्, तदा क्रमेण बाधकनिर्बर्हणे निर्वहेदपि श्रवणादिकम्, परन्तु साधनदशायां
तादृशं तदेव दुरापम्, अतस्त्यागस्तु विरोधिभिर्विधूयेतैव, किन्तु स्वयमपि तु पुनः
विषयैरागन्तुकैरनेकरूपैर्भोग्यैराक्रान्त उपमर्दितः सन् कालतः कलिरूपात्
भक्तातिरिक्तपरिपन्थिनः पाषण्डी तत्तद्विरुद्धाचरणवान् भवेदित्यर्थः। **सकामत** इति
पाठे क्रोधलोभाद्युपलक्षकात् कामतो बलिष्ठदोषात् स तथा स्यादित्यर्थः। तेन
विना वैराग्यं त्यागोधमः, तत्तद्विषयप्रतिहतः, फलाय नावकल्पते, प्रत्युत प्रत्यवायमेव
सम्पादयति, प्रमाणविरुद्धाचरणमुत्पाद्येति भावः। ननु विषयैराक्रमणेपि
श्रवणादिभिर्भगवदावेशस्यापि सम्भवात्तन्महिम्ना त्यागो निष्प्रत्यूह इति चेत्तत्राहुः
विषयाक्रान्तदेहानामिति। भगवदावेशे सति त्यागे न कापि क्षतिः। किन्तु
विषयैर्देहादिकं येषामाक्रान्तं तेषां **हरेः सर्वदुःख**हर्तुर्विषयदोषदवीयसो
निर्दोषसेव्यस्यावेशो हृदयादावागमनं तत् सर्वदा कस्मिन्नपि काले न भवति। किन्तु
“विषयान् ध्यायत” इत्युक्तरीत्यानाश एव भवतीत्यर्थः। न च विषयाणां
श्रवणाद्यनभिभावकत्वान्न तत्प्रयुक्तभगवदावेशानुपपत्तिरिति वाच्यम्।

“नराणां क्षीणपापाना”मिति वाक्यात्तादृशेष्वेव श्रवणादि प्रयोज्य प्रभवावेशस्योपपत्तेः। न च “बाध्यमानोपि मद्भक्त” इत्यादिवाक्यैर्विषयसत्त्वेपि का क्षतिरिति वाच्यम्। उक्तवाक्यानां विषयसुखवैमुख्येन सेवमानस्य प्रमादात्तत्कृतबाधेपि प्रभुरतिकृपार्द्रस्तद्दोषमपाकरोति, अतो न विषयाभिभव इत्यभिप्रायकत्वात्। अत एव प्रायःपदमुपात्तं तत्र। एतद्वाक्याभिप्रायान्तरमस्मत्पितृव्यचरणकृतौ विवेकधैर्याश्रयविवृतौ विलोकनीयम्। एवं साधनभक्तिमार्गे समर्थितं त्यागाभावमुपसंहरन्ति अतोत्रेति। यतो बहून्येव बाधकान्युक्तान्यतोऽत्र साधने भक्तौ श्रवणादिरूपसाधनभक्तिमार्गे त्यागः सन्न्यासः सुखावहः आनन्दहेतुर्नैव भवतीत्यर्थः। साधनपदमेवकारश्च फलभक्तौ त्यागस्य सुखनैयत्यावगत्यै॥३, ४, ५, ६॥

नन्वेवं भक्तिमार्गे न युक्तश्चेत्परित्यागः, तर्हि ज्ञानमार्ग एवास्ताम्, एवञ्च भक्तिमार्गे व्यर्थस्तद्विचार इति चेत्तत्राहुः विरहानुभवार्थमिति।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते।

स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते॥८॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्न्यासेन विशेषितात्।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि॥११॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।

गुणास्तु सङ्गरहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि॥१२॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥

दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा॥१३ १/२॥

तुशब्दः साधनमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः। साधनभक्तौ परित्यागस्य बहुबाधकास्कन्दितत्वेनासम्भवेपि रसात्मकस्य प्रभोः परमफलरूपद्वितीयदलविविधभावास्वादनलक्षणो यो विरहानुभवस्तदर्थं परित्यागः सर्वात्मभावाङ्गभूतः सन्न्यासः प्रशस्यते, प्रशस्तो भवति, किंवा प्रकर्षेण मोक्षाधिककक्षापन्नत्वेन कथ्यत इत्यर्थः। तेनातिशयित भगवदङ्गीकारात्तथाधिकाराधिगमेन विधीयमानः परित्यागः परमपुमर्थरूपतद्विप्रयोगरसानुभावकतया भक्तिमार्गे भव्यतम एवेत्येतद्विचारः सुचारुतर

इति भावः। ननु ज्ञानमार्गीयसन्न्यास ग्रहणे यथा विहितत्वात् काषायवस्त्रवेषः क्रियते, स हि सातिशयो मोक्षार्थः, तथा भक्तिमार्गीयसन्न्यासग्रहणे स न भवतीति किमर्थं तत्सम्पादनमिति चेत्तत्राहुः स्वीयबन्धनिवृत्यर्थमिति। अत्र विरहानुभवार्थं भक्तिमार्गीये परित्यागे ज्ञानमार्गीयसन्न्यासे प्रसिद्धो वेषस्तं विना भार्यादिभिः प्रतिबन्धः कार्य इति स्वीयैर्दारादिभिर्यो बन्धः प्रतिबन्धः, किं वा स्वीयेषु बन्ध आसक्तिः प्रतिबन्धरूपा तन्निवृत्यर्थं कर्तव्यो, न चान्यथा, प्रकारान्तरेण ज्ञानमार्गीयेण न कर्तव्य इत्यर्थः। यथा ज्ञानमार्गीयसन्न्यासे तादृग्वेषस्यादृष्टविशेषद्वारापवर्गोपयोगित्वम्, न तथा भक्तिमार्गीयसन्न्यासे, तस्य स्वीयबन्धनिवृत्तिमात्रप्रयोजनत्वेनैवात्र कर्तव्यत्वादितरथा तदभावादिति भावः। ननु ज्ञानमार्गे गुरुतदुपदिष्टसाधनादेरिष्टसिद्धिः न पुनः सन्न्यासमात्राद्, भक्तिमार्गीयसन्न्यासे तु तदप्रसिद्धेः कथं फलसिद्धिरित्याशङ्कायां तत्प्रसिद्धिमाहुः **कौण्डिन्यो गोपिका** इति। कौण्डिन्यो महर्षिः स गुरुः प्रोक्तः, गोपिका घोषभूषणरूपाः सीमन्तिन्यः, ता भक्तिमार्गीये विरहानुभवपर्यवसायिनि सन्न्यासे गुरवः प्रोक्ताः, श्रीभागवतादिषु सम्यक्कथिता इत्यर्थः। अत्रायमभिप्रायः। कौण्डिन्यस्यानन्तगुणवर्णनाकर्णनोदीर्णतदभ्यर्णगमनादिमनोरथार्णवभवदनन्तभावसन्तप्ताशेषकरणवृत्तेः कृत्स्नपरित्यागे न विपिनगह्वरादिषु तद्वेषणविवशस्य सर्वपरित्यागपूर्वकतादृगार्तिलक्षणविरहानुभवहेतुभावप्रकाशकत्वमस्ति। गोपिकानां तु स्वप्राणप्रेष्ठप्रस्फुरत्सर्वात्मभाववत्तया रासोत्सवादिप्रस्तावे तथात्वं स्फुटतरमेवेति लोकवेदातीतशुद्धपुष्टिमार्गीयप्रकारस्य प्रभुणा स्वप्रयोजनार्थं स्वभोग्यभक्तस्थापितस्य प्रथमं तत एव प्राकट्यात्तत्रैव गुरुत्वं समञ्जसतमम्। महर्षौ तु तद्दर्शनार्तिप्रकर्षतौल्यात्तदुक्तिः, प्रमाणमार्गीयस्यात्र मुख्यं गुरुत्वमयुक्तमिवेति। तेन गुरुत्वमत्रैतत्परित्यागफलसाधनीभूतभावप्रकाशकत्वं विवक्षितम्, न तूपदेष्टृत्वम्, तस्य प्रकृतेऽभावात्। एतत्सन्न्यासस्य ज्ञानमार्गीयतद्विलक्षणत्वेनैतादृशस्यैव तस्य वक्तुमौचित्यात्। उपदेष्टृत्वस्यापि तदर्थज्ञापनमात्रौपयिकतया फलतो विशेषाभावाच्च। अत एव “एवं सत्यस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव इति ज्ञापितं भवती”ति निरोधविवृत्तिप्रकाशे श्रीमदस्मत्प्रभुचरणचारुक्तिश्चकास्ति। “स्वामिन्य एवे”त्येवकारान्मुख्यं गुरुत्वमेतासामवसेयमित्यन्यदेतत्। किञ्च, न केवलमेता एतादृशभावमात्रस्य निजमार्गीयस्य प्रकाशिकाः, किन्तु यथा स्वभजनपराणामेतद्भावफलं सिध्यति, तथानुकम्पा सम्पादिका इति विरहानुभवात्मकफलौपयिकधर्मवत्त्वलक्षणं साधनत्वं गुरुत्वेपि न विरुद्धं, कर्तुरिव निमित्तकारणत्वमित्याशयेनाहुः **साधनं च तदिति**। तत्प्रसिद्धं मुख्यं साधनं गोपिका एवेत्यर्थः। चोप्यर्थे। तेन श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहभर विजृम्भितत्प्रकटितैतन्मार्गीय प्रकारपरिकलनावतामेतद्भावसजातीयभाववत्तयैतद्भजनपूर्वकं प्रभुभजने यथोक्तमुख्यफलं भवतितरां निर्विचिकित्समिति भावः। अत एव भगवद्भजनापेक्षयाप्येतासां भजनमुत्तममिति सूक्तिः श्रीमदाचार्यचरणानाम्। नन्वेवमेतासु गुरुत्वे व्यवस्थापितेपि किमेतत्प्रकाशितं स्वमार्गीयं साधनमित्यत आहुः भाव इति।

सर्वात्मभावयुक्तानां भक्तानां विप्रयुक्तत्वदशावशादुन्मिषतो मनोवागविषयस्यभावस्य भगवत्स्वरूपात्मकत्वेन रसात्मकत्वात्तस्य भावनया स्वाचार्यानुग्रहभरसमुत्थतथा विधभगवदङ्गीकारादेवोदयमानया सिद्धः पर्यवसितो यस्तत्सजातीयोऽनुभवैकगम्यो भावः स एव तन्मार्गीयतया पूर्वोक्ते परित्यागफले साधनमिष्यते, अन्यत् ज्ञानमार्गीयत्यागे प्रसिद्धं किमपि साधनत्वेन नेष्यते, नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः। यद्वा। असिद्धस्य भावस्य साधनत्वायोगेन प्रियतमस्य गुप्ततया स्थितस्य विप्रयोगरीत्या तत्तद्भावपोषकस्य तादृग्भक्तनिजविषयकोत्कटार्तिनिरीक्षणेन प्रतिक्षणविलक्षणरसभावानुभवविचक्षणस्य प्रभोः शुद्धपुष्टिभक्तकर्तृकया परमार्तिपूर्वकप्रियान्वेषणतर्वादिप्रश्नगुणगानतत्तदवस्थासम्बन्धिभावविषयिण्याभावनया तेष्वेव सिद्धः फलितो यः कोप्यनिर्वचनीयानुभवैकविषयवैभवः स्वविषयातिरिक्तस्मरणहरणस्वभावः स एवोक्तभक्तानामनुग्रहेणैव कदाचिदन्यत्रापि क्वचिदुदितः परित्यागफले साधनमिष्यत इत्यर्थः। एतेनोक्तभक्तानां गुरुत्वं सम्यगुपपादितं भवतीति भावः। नन्वहर्निशं विरहभावनामभ्यस्यतस्तत्परिपाकदशायां नियमतो वैकल्यावस्थ्यादिकं यद्भवति तत् कथं फलरूपरसभावेऽन्तर्भावार्हम्, लौकिकतत्तुल्यरूपत्वदर्शनेन प्राकृतत्वस्य दुर्वारत्वादिति चेत्तत्राहुः विकलत्वमिति। विकलत्वमनुसन्धेयस्याननुसन्धेयस्य चाननुसन्धानानुसन्धानान्यथानुसन्धानादिजनको व्यभिचारिभावः तथा तत्सदृशं व्यभिचारिभावरूपं प्रथमानुभूतप्रियविषयकतत्तदर्थोत्कटाभिलाषजनितमस्वास्थ्यं, येन तदतिरिक्ते वस्तुनि रुचिव्याघातः। ईदृशभावानामन्येषामुपलक्षणमेतद्वयं फलीभूतस्य विरहभावस्य प्रकृतिः प्रकारः स्वभावो वा, हि यतः प्राकृतं लौकिकं दुःखादिजन्यं न भवति, अतः फलरूपरसभावान्तर्भावो नैतस्यानुपपन्न इत्यर्थः। नहि यज्जातीयं कार्यं दुःखादितो जायते, न तज्जातीयं सुखादित इत्यस्ति नियमः। शोकादिव हर्षदप्यश्रूद्रमादेर्दर्शनात्। अत एवैवमुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्दशमस्कन्धविवरणे, “नहि दोषेणैव कार्यं भवति, गुणेन न भवतीति वक्तुं शक्यम्, दुःखादप्यश्रूणि आनन्दादप्यश्रूणी”ति एवं सन्न्यासफलसाधनाद्यभिधाय, तत्सम्पत्तिमतो बाधकान्याहुः ज्ञानमिति। एवं विकलत्वास्वास्थ्य्यादिना वर्तमानस्य सतस्तस्य भक्तिमार्गीयपरित्यागवतः। किञ्चैवं परित्यागप्रकारेण वर्तमानस्य भक्तिमार्गीयस्य तस्य विकलत्वास्वास्थ्य्यादिभावस्य ज्ञानमात्माभेदानुभवरूपं बहिःसंवेदनाद्यभावद्वारा तादृक्तीव्रतापोपशामकतया स्वास्थ्यप्रयोजकं गुणा भगवतो धर्माः, पूर्वं बहुधानुभूता बहव एवानुभवैकवेद्या ये सजातीयभावैर्भक्तैः सम्भूयः भूयः क्रमेण मिथो गीयमानाः स्वास्थ्यमुपजनयन्ति, बाधका विरोधिन इत्यर्थः। ननु ज्ञानमार्गे सन्न्याससहकृतात् ज्ञानाद्यादृशं फलम्, भक्तिमार्गेपि त्यागात्तादृशमेव भविष्यतीति न फलत कोपि विशेष इति चेत्तत्राहुः सत्यलोक इति। फलभेदः सामग्रीभेदप्रयोज्य इति ज्ञानमार्गीयेण सन्न्यासेन विशेषितात् ज्ञानात् तत्त्वज्ञानात् सत्यलोके स्थितिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति यावत्, सा ज्ञानमार्गीयस्य संन्यासिनो भवति, भक्तिमार्गीयस्य तस्य विरहभावानुभावकभावसिद्धिहेतुभूतया

भावनया सहकृतत्वाद्यत्र भक्तिमार्गीयत्यागे, भावना साधनं प्रयोजिका, तत्र फलमपि
 तथा, तेनैव प्रकारेण विरहानुभवात्मकं भवेत्। नतु सत्यलोकादिसदृशं,
 कारणानुरूपस्यैव कार्यस्य न्याय्यत्वात्। सत्यलोकाद्येतत्यागफलयोस्तारतम्यं तु
 सुमेरुसर्षपयोरिव सुप्रसिद्धमेवेति क इतोधिको विशेषोभिधेय इति भावः। किञ्च,
 ज्ञानमार्गीयस्य त्यागिनः फलं यन्मुख्यतयाम्नातमपवर्गाख्यम्, तदपि न त्वरितमेव
 भवति, किन्त्वतिविलम्बेनैवेत्यभिसन्धायाहुः **तादृशा इति**। तादृशाः
 सन्न्यासविशिष्टज्ञानवन्तः सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादाववान्तरफलतयोपनते
 तिष्ठन्त्येव, न तु झटिति मुच्यन्त इत्यर्थः। “ते ब्रह्मलोके त्वि”ति श्रुत्या
 तन्मुक्तिविलम्बावधारणात्तल्लोकस्थितिरसन्दिग्धेति **न संशय** इत्युक्तम्। तेन
 भक्तिमार्गीयत्यागफलचिन्तायामविचारितरुचि रस्याप्यस्यातिचिरेणैव चेत्प्राप्तिः,
 तदा तदाशामप्यवलम्ब्य स्थितिः श्रेयसी, न पुनरेतद्विचलवोप्युचित इति भावः।
 नन्वेवं भक्तिमार्गीयत्यागेऽपि कुतः शीघ्रं फलसम्भवो
 यतस्तत्प्रतिबन्धकस्तत्तदहन्ताममतादिरूपो बन्धस्तदवस्थस्तन्नाशश्च ज्ञानादिकं विना
 कथमित्याशङ्क्यय तत्प्रकारमाहुः **बहिश्चेदिति**। सर्वपरित्यागानन्तरं
 विरहभावभावनाभ्यासभूयस्त्वादन्तस्तद्भावरूपेण स्थितोऽत एव स्वात्मा निरापधि
 प्रियत्वाज्जीवनहेतुत्वाच्च तत्त्वेन स्फुरितः स कदाचिदत्युत्कटताप
 वैकल्य्यादिभावस्वभावाद्यादृशोन्तरनुभूयते तादृशो **बहिः** प्रकटो
 दृगादिगोचरश्चेद्भवति, तथाभूतश्च यदि पुनरन्तःप्रविशेत् तत्र दृष्टान्तो वह्निवदिति।
 यथा काष्ठनिष्ठो वह्निः कदाचिन्मथनादितो बहिः प्रकटीभूयपुनस्तन्मध्ये प्रविष्टः
 काष्ठतामपाकृत्य वह्निरूपतां सम्पादयति, तथा भगवानप्यात्मत्वेनान्तःस्थितो
 विरहभावोद्रेकाद्वहिरागतः पुनः सम्बद्धः सर्वथा प्रतिबन्धकमपनीय निजभावरूपतां
 सम्पादयतीत्यर्थः। वह्निदृष्टान्तेन स यथा तापहेतुरूपेणैव सम्बद्धः स्वरूपात्मकत्वं
 कुरुते, तथा भगवानपि विप्रयोगभावप्रकारेणैव सम्बद्धस्तद्भावरूपतामित्यपि सूचितम्।
 तदैव पुनः प्रवेशक्षण एव सकलः सर्वोऽपि तत्तदहन्ताममतारूपो बन्धो **नाशमेति**
 प्राप्नोति, न चान्यथा, प्रकारान्तरेणात्र प्रतिबन्धकस्य नाशो न भवतीत्यर्थः। नन्वेवं
 कात्स्न्येऽहन्ताममतात्मकस्य बन्धस्य विलये प्रलयानलादप्यतिप्रबले विप्रयोगे च
 प्राचुर्यमञ्चति, जीवनमेवाशक्यं स्यात्, तत्तद्रसभावानुभवस्तु दूरदूरतर इत्यत आहुः
गुणास्त्विति। तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावृत्त्यर्थः। गुणाः स्वरूपात्मका भगवद्धर्मात्मकाः
 ते पूर्वं तथा तथानुभूता वियोगदशायां सङ्गरहित्यात् बहिःप्रियदर्शनाद्यभावात्
 अतिविरहतापविह्वलतया कमपि प्रकारं प्राप्नुवतां भक्तानामग्रिमैवंविधरसानुभवाय
 भगवता सर्वभावेन रक्षणीयानां **जीवनार्थं भवन्ति**। नतु स्वास्थ्यमप्युत्पादयन्ति येन
 तद्भावान्तरायः स्यात्। हि युक्तोयमर्थः। रसात्मकस्य धर्मिणो विरहेण सन्दिग्धस्थितीनां
 जीवनं स्वरूपात्मकतया तदीयगुणानामेव शक्यं यतः। यद्यपि धर्मिणो विरहस्य
 सर्वाधिकबलतया सर्वतिरोधायकत्वाज्जीवनं कथमपि न जाघटीति, तथापि तस्य
 प्रियगुणगानप्रादुर्भावावकाशप्रदत्वात्तेषां च पर्यायेण मुहुरुपगीयमानानां

पेपीयमानपीयूषवज्जीवनजननस्वभावस्य जागरूकत्वान्न काप्यनुपपत्तिः। न चैवं गुणैर्जीवनसम्पत्त्यनन्तरं विरहभावस्य तिरोभावः प्रसज्येतेति वाच्यम्। तेषां जीवनाधिककार्यानुपधायकत्वेन तस्य तादवस्थ्यात्। विरहानुभवार्थं तज्जीवनमात्रस्य भगवच्चिकीर्षितत्वाच्च। नन्वेवं सति स्वविरहसन्तापभरपीडितस्वान्तानामवस्थां विचार्य सर्वसमर्थो भगवानेव यदि कदाचिदपि लोकसिद्धस्वास्थ्यदिना प्रकारान्तरेण वा तद्भावमुपशमयेत्, तदा स्वयमेव बाधकः स्यादिति चेत्तत्राहुः **भगवानिति**। अत्र अस्मिन् स्वविप्रयोगतीव्रतापादिभावानुभवे **भगवान्** यद्यपि सर्वैश्वर्यसहितः, तथापि बाधकः केनापि प्रकारेणास्य विघातको नेष्यते, कुतः, फलरूपत्वात्, निरवध्यानन्दरसात्मकत्वादित्यर्थः। यदि भगवान्मनागप्येतद्भावमपनयेत्तदा रसस्य संयोगविप्रयोगभेदेनोभयरूपत्वादयं तरभावानुभवाभावे स्वस्य तथात्वमेव न सिध्येत्। सर्वात्मभाववस्तु स्वरूपात्मकं रसमविरतं वितरत एव फलरूपत्वाभ्युपगमादिति भावः। एवं च “रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति” “एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती”त्यादिश्रुतिव्या कोपोपि नोपनिपतति। ननु तथापि परमकरुणापरीतो भगवान् भक्तानां भूरितरमात्मविरहक्लेशमसहमानस्तदुपशमाय सर्वथा स्वास्थ्यप्रतिपादकवाक्यानि करिष्यति, अन्यथा स्वदयालुत्वविरोधः स्यादिति चेत्तत्राहुः **स्वास्थ्यवाक्यमिति**। स्वास्थ्यमागन्तुकक्लेशनिवृत्त्या पूर्ववस्थितिः, तत्प्रतिपादकं वाक्यं प्रभुणा न कर्तव्यम्। न चैवं सति सामर्थ्यं दुःखदर्शी कीदृशो दयालुरिति शङ्कनीयम्। एवं विधिविरहक्लेशादिभावस्य परमपुमर्थरूपत्वेनैतदभावसम्पादन एव दयापचयापातो यतः। अतः स्वत एवैतादृशभावनिवहान्निजेष्वनिशं विशदयतो निर्व्यूढो दयातिशय इति मनसिकृत्योक्तं दयालुर्न विरुध्यत इति। न ह्येतादृशभावानां प्रतिक्षणं संरक्षणपोषणादितोप्यधिकं क्वचित्किञ्चित्कृपाकार्यमस्ति। क्लेशादित्वेन प्रतीतिमात्रमत्र परं प्राकृतानाम्, वस्तुतस्त्वमी रसात्मका अनुभवैकवेद्या निरवद्यभगवद्भावा इति सुस्थमखिलम्। स्वास्थ्यवाक्यमित्येक वचनेनैकमपि तादृग्वाक्यं प्रभुर्न करोति, येनैतद्भावबाधः स्याद्, बहूनां तु सम्भावनैव केति भावः। एवं भक्तिमार्गीय परित्यागमभिधाया तस्य दुरापत्वं वदन्तस्तत्सिद्धयुपायमाहुः दुर्लभोयमिति। अयं भक्तिमार्गीयपरित्यागो दुर्लभः, शुद्धभगवत्स्नेहातिरिक्तसाधनालभ्य त्वात्। अत एव तथाभूतप्रभ्वनुग्रहप्रभवेन प्रेम्णा शुद्धस्नेहेन सिध्यति, तस्य तत्तत्सवकार्यपरम्परया तन्निर्वाहकत्वात्, नान्यथा, न तु विहितेन केनापि प्रकारेणेत्यर्थः। तेनैतदर्थिनां तदीयानां प्रेम्णि प्रयत्नः प्रतिष्ठितो भवतीति भावः। यत्रैतत्साधनस्य प्रेम्णा एव दुर्लभत्वम्, तत्रैतत्साध्यपरित्यागस्य दुर्लभत्वं किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायो द्योत्यते॥६-१३ १/२॥

एवं स्वमार्गीयं सन्न्यासं विचार्य ज्ञानमार्गीयसन्न्यासविचारमाहुः **ज्ञानमार्ग इति**।
ज्ञानमार्गे तु सन्न्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥

अतः कलौ स सन्न्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्न्यसेत्॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्॥१६ १/२॥

तुशब्दो भक्तिमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः। ज्ञानमार्गे मोक्षार्थं विविदिषाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि सन्न्यासो विचारितः। तदेवाहुः ज्ञानार्थमिति। ज्ञानार्थं ज्ञानप्रयोजनार्थं यः स विविदिषासन्न्यासस्तस्य ज्ञानेच्छाप्रयुक्तस्य ज्ञानोत्पादनोपयोगित्वात्। उत्तराङ्गं मुक्त्यङ्गं यः स तु विद्वत्सन्न्यासस्तस्य ज्ञानोत्तरभाविनो मुक्तावेवोपक्षयात्। चकारेण मुक्तिचरमकारणे ज्ञानेपि तदुपयोगः सुच्यते। तत्र विविदिषासन्न्यासः कलौ न सम्भतीत्यभिधास्यते। विद्वत्सन्न्यासस्तु यद्यप्यस्ति, परं तस्मिन् सिद्धिर्मुक्तिर्जन्मशतैरनेकजन्मभिर्भवति। “बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत” इति प्रभुवाक्यात्। ज्ञानार्थं सन्न्यासस्तु कलौ न सिध्यतीत्याहुः ज्ञानमिति। ज्ञानं च न केवलं सन्न्यासाद्भवति, किन्तु साधनापेक्षं यज्ञदानाद्यधीनं मतं, साधनत्वेन यज्ञादीनां श्रवणात्। “तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेऽति श्रुतेः। तानि च दशकालादिसाध्यानि, तच्छुद्धिः कथमपि कलौ न भवति। यतोतः कलौ स विविदिषासन्न्यासः कृतः पश्चात्तापायैव भवति, नान्यथा, यतः फलान्तरमपि शङ्क्ययेतातः सर्वथैव न कर्तव्य इति भावः। किञ्च, न केवलं पश्चात्तापस्तस्य पर्यवस्यति, किन्त्वन्यदपीत्याहुः पाषण्डित्वमिति। पाषण्डित्वं स्वधर्मविरुद्धाचरणं च भवेत्। अपिशब्दस्तज्जन्यपापसमुच्चयार्थः। यस्मादीदृशोऽयं सन्न्यासस्तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं न सन्न्यसेदित्यर्थः। यद्वा। ज्ञानेन हेतुना सन्न्यसेत्, नतु तेन विना ततेत्यर्थः। अपि च युगान्तरे यथा कथञ्चिद्विविदिषासन्न्यासस्य निर्वाहः शङ्क्ययेतापि, कलौ तु कलयापि नेत्याहुः सुतरामिति। कलिदोषाणां बहूनां प्रबलत्वादशक्यबाधत्वादिति स्थितं, पर्यवसन्नमित्यर्थः॥१४ १६ १/२॥

ननु यदि कलिदोषप्राबल्याज्ज्ञानमार्गे न सन्न्यासस्य निर्वाहस्तर्हि तत एव भक्तिमार्गेपि तस्य तथेति तुल्यमित्येवमाशङ्कन्ते भक्तिमार्गेपीति।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥

भक्तिमार्गेऽपि चेत् कलिसम्बन्धी दोषः प्रबलस्तदा नाश एव स्यात्, न तु त्यागस्य फलपर्यवसानमिति किं कार्यं, स्वीकार्यो वा ज्ञानमार्गीयः परित्यागः, परिहार्यो वा भक्तिमार्गी योपीति महत्सङ्कटमिति प्राप्ते, उच्यते, समाधानमिति शेषः। तदेवाहुः **अत्रारम्भ** इति। ज्ञानमार्गे सन्यासस्योपक्रमे कलिकालादिदोषैः साधनवैगुण्यात्तदनिर्वाहे नाशः फलाभावो युज्यते। न च तत्र दोषसत्वे किं मानमिति वाच्यम्। ‘कलेर्दोषनिधे’रिति वाक्येन भगवद्भजनातिरिक्ते तत्सद्भावस्य बोधितत्वात्। दृष्टस्य श्रुतस्य वा नाशस्यैव दोषोन्नायकत्वाच्च। अत्र भक्तिमार्गे आरम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः **नाशः** फलाभावो न स्यात्, कलेरन्यत्र बाधकस्यापि भक्तिमार्गे साधकत्वेन साधनवैगुण्याप्रसक्त्या सन्यासस्यानिर्वाहासम्भवात्। भक्तिमार्गस्य ज्ञानकर्मादिभ्यो बलवत्त्वस्य बहुलमुपलम्भात्। “न कर्हिचिन्मत्परा नक्ष्यन्ति” “न मे भक्तः प्रणश्यती”त्यादिभिर्भक्तस्य नाशाभावावधारणाच्च। एकादशस्कन्धे “न ह्यङ्गोपक्रमे नाशो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी”त्यनेनारम्भदशायामपि तदभावस्य प्रतिज्ञातत्वाच्च। तेन भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि न शङ्कितुं शक्य इति भावः। किञ्च, भक्तिमार्गे परित्यागवान् कश्चिन्नष्टो दृष्टः श्रुतो वा येन तद्दृष्टान्तेनान्यस्मिन्नप्याधुनिके **नाशः** शक्यवचनः स्यादतो दृष्टान्तस्याप्यभावतो भक्तिमार्गे न कश्चिदुन्नेतुमपि शक्यते दोष इति न नाशसम्भावनालेशोऽपि। ननु तथापि विरहव्यथाव्याकुलः सन् यदि कोऽपि कदाचित् स्वास्थ्यसम्पादकं कमपि पदार्थमुपादद्यात्तदा तस्य भावस्य वा बाधः स्यादेवेति चेत्तत्राहुः **स्वास्थ्यहेतोरिति**। स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यप्रयोजकस्य येनैवैतद्भावविधातकं किञ्चिदपि स्वास्थ्यं भवति तस्य स्वस्यैव पूर्वमेव सर्वभावेन त्यागादस्य भावस्य त्यागिनो वा बाधः प्रतिघातः केन पदार्थेन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः। ननु लौकिकस्य बाधकस्यासम्भवेऽप्यलौकिकाः कालादय एव बाधका भविष्यन्तीति चेत्तत्राहुः **हरिरिति**। यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता समर्थः सदयश्च, तेन भक्तकलेशमपीक्षितुं न क्षमः, तथाप्यत्र अस्मिन्नतिप्रचुरविप्रयोगभावे बाधां नाशं स्वरूपरसामृतैरेतद्भावरूपैर्भक्तानामपोषणरूपं कर्तुं न शक्नोति, समर्थो न भवति। अपरे कालादयः कुतो **बाधां** कर्तुं शक्यन्तीत्यर्थः। इहायमभिसन्धिः। भगवान् हि रसत्वेनैव “रसो वै स” इत्यादिश्रुत्या निरूपितः, तत्त्वं च संयोगविप्रयोगात्मके शृङ्गार एव विश्रान्तमिति तदुभयात्मकः स्वयं स्वस्वरूपात्मकानेव तत्तद्रसभावांस्तत्तद्विहतिभिरत्यनु गृहीतेष्वविर्भाव्य तदनुभवं विदधत्तदुद्धोदितनिजभावनियन्तानां चानुभवमनिर्वचनीयानेकप्रकारैर्भक्तानां सम्पादयन् स्वरूपानन्ददायको महोदारो मुहुर्मुहुर्विप्रयोगादिभावपोषणमेव कर्तुमर्हति, न तु तद्विधातमपि, स्वस्य भावात्मकत्वात्तेषां चातिप्रबलत्वाद्भक्तविषयकैर्भावैः स्वस्य तदधीनत्वभावनात् निरवधिकृपानिधित्वस्य प्रकटितत्वाच्च।

ननु तथापीश्वरः स्वतन्त्रः कदाचिद्भावमन्यथयेदेव, न तु नियमेन पोषयेदित्याशङ्क्यय तस्य स्वभाव एवेदृशो यदेतद्भावं पोषयत्येव, न तु नाशयतीतीममर्थं व्यतिरेके दृष्टान्तेन समर्थयन्ति अन्यथेति। यदि भगवान् स्वरूपामृतैरुक्तभावैर्भक्तान्न पोषयेत् क्वचित्, किन्त्वेतद्भावबाधनमेवकुर्यादिति तदा लोके मातरो जनयित्यो बालान् स्तनन्धयान् स्तन्यैः क्वचित् न पुपुषुर्न पोषितवत्य इत्यपि स्यात्। तत्तु तथाभूतस्वभावानां तासां सर्वथैवाप्रसिद्धमसम्भावितमशक्यं च, एवं भगवतोपि स्वस्वरूपामृतैर्भक्तानामपोषणमेतद्भावनाशनरूपमित्यर्थः। तेन स्तन्यादिदानेन बालकानामपोषणे यथा मातृषु वात्सल्यस्वभावस्य तेषां जीवनस्य चान्यथाभावः स्यात्, तथा स्वरूपामृतदानेन भक्तानामपोषणे स्वरूपात्मकानुभूयमानविप्रयोगभावबाधनलक्षणे भगवति तादृक्स्वभावस्य भक्तानां जीवनस्य चान्यथा भावः स्यादिति भावः। ननु यद्यप्ययं भावः सर्वाशक्यबाधस्तथाप्येतद्भावस्य बहिःसंवेदनदशायामेवोद्गमसम्भवेन ज्ञानस्य च तन्नाशकत्वेनैतादृशभाववतो भक्तस्य भगवदिच्छया ज्ञानिभिः सङ्गे सति तद्वाक्यैरेतद्भावविपर्यासेन चित्तस्यान्यथावृत्तिरूपो मोहो भविष्यत्येव, तेन च फलप्रतिबन्ध इति चेत्तत्राहुः **ज्ञानिनामपीति**। यद्यपि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यादिवाक्यैर्ज्ञानस्य तादृशभक्तिपरिपन्थित्वमिति तद्वत्सङ्गे भवति भाववैपरीत्यं, तथापि भगवान् भक्तं तादृशं ज्ञानिनामपि वाक्येन ज्ञानाद्भक्तेराधिक्यज्ञापनाय तन्मार्गीयाणां संसर्गं सम्पाद्यापि तद्वाक्येन बहिःसंवेदनविघटनद्वारा तद्भावविरोधिना अत्युत्कटभाववन्तं न मोहयिष्यति, तथा सति तद्भावमेव तस्य न सम्पादयेत्, प्रयोजनाभावात्। अग्रे तस्य ज्ञानिवाक्यादिभिर्निरस्यत्वात्। किञ्चैवं सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धं ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमुत्सिदेत्। अतो भक्तस्य भावः केनाप्यन्यथा कर्तुमशक्य इति न फलप्रतिबन्धसम्भावनापीति भावः। लृट्प्रयोगेणाग्रेपि मोहानुत्पादः सूच्यते। ननु प्रभुकृतिप्रयोजनमाकलयितुमशक्यं तदिच्छामन्तरेणेति कदाचिद्दत्तमपि भावं प्रत्यादित्सुश्चेत्, तदा ज्ञानिवाक्यैर्भक्तमपि मोहयेदेवेत्याशङ्कायामाहुः **आत्मप्रद** इति। यत आत्मानां रसरूपं भक्तेभ्यः प्रकर्षेण विमुक्तसङ्कोचतया ददाति, प्रियः प्रत्याश्रयश्च, अपिशब्दात्तदधीनश्च भवति, अतो दित्सितस्य स्वरूपस्यैतद्भावातिरिक्त प्रकारेण दानासम्भवादेतद्भावरहिते तद्दानाभावेनास्यादेयतापत्तेः प्रीत्यन्यथात्वप्रसक्तेः प्रयोजनाभावध्रौव्याच्च **किमर्थं मोहयिष्यतीत्यर्थः**। एवं स्वमार्गीयं परित्यागं सम्यग्विचार्य तं कर्तुमुपदिशन्ति तस्मादिति। यस्मादुक्तातिरिक्तप्रकारेण कृतः परित्यागः पश्चात्तापैकपर्यवसितस्तस्मादुक्तो यः प्रकारो 'विरहानुभवार्थं'त्यादिना तेन परित्यागो भक्तिमार्गीयः सन्न्यासो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः। तथा सति पश्चात्तापनिवृत्तिपूर्वकमुक्तफलमप्रत्यूहं भविष्यतीति भावः। ननूक्तपरित्यागफलस्यैतत्प्रकारेणैव सिद्धावपि प्रकारान्तरकृतपरित्यागे किञ्चित्प्रयोजनं भविष्यत्येव, तस्यापि तत्र तत्रोक्तत्वादिति चेत्तत्राहुः अन्येति। अन्यथा प्रकारान्तरेण

सन्न्यासे स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् भ्रश्यते भ्रष्टो भवति, तेन पश्चात् तप्त एव भवेदिति मे एतद्भावतत्वाभिज्ञस्य निश्चिता मतिर्निःसन्दिग्धा बुद्धिरतो मदीयैरेतन्मत्यनुसारिभिः प्रकारान्तरं सर्वथैव नोपादेयमित्यर्थः॥१७-२१॥

उपसंहरन्ति इतीति।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।

सन्न्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

इतिशब्दः समाप्तौ। कृष्णप्रसादेन कृष्णः फलात्मा, यशोदाद्युत्सङ्गलालितः, तस्य प्रसादः, परमकाष्ठापन्नोऽनुग्रहः, तेनासाधारणालौकिकहेतुनालौकिकस्यैतन्निश्चयजननासामर्थ्यात् वल्लभेनेति प्रथितेन प्रभोः प्रियेणात एव रसात्मकतत्स्वरूपस्य संयोगविप्रयोगभावतदवान्तरभेदानुभववता भक्तौ फलरूपायाम् सन्न्यासवरणं पुष्टिमार्गीयपरित्यागाङ्गीकार इति यावत्, तत् विशेषेण स्फुटतया गुप्ततया वा निश्चितं निर्धारितं, अन्यथा एतन्निश्चयाभावे फलरूप भक्त्यभावे वा प्रकारान्तरण सन्न्यासमुरीकुर्वन् पतित उक्तस्वमार्गीय सन्न्यासफलात् प्रच्युतो दोषवांश्च भवेदित्यर्थः॥२२॥

श्रीविठ्ठलेशचरणाब्जयुगानुगश्रीकल्याणरायतनयेन मुदा विचार्य।

गोपेश्वरेण विहिता विवृतिर्वितन्यात् सन्न्यासनिर्णय इयं विदुषां विनोदम्॥१॥

इति श्रीश्रीगोकुलाधीशपदसरसिजसेवापथप्रवर्तकश्रीवल्लभाचाय

चरणाब्जरजोणुशरणश्रीकल्याणरायात्मजश्रीहरिरायानुज

श्रीगोपेश्वरविरचिता सन्न्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा ॥

१ गीर्भिगोपालदासस्य श्रीगोकुलनिवासिनः। गोपेश्वरेण विवृतिः कृता सन्न्यासनिर्णये॥१॥ इत्यधिकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सन्यासनिर्णयः। श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतः।

स्वाचार्यवर्यचरणोदितभक्तिमार्गप्रारम्भकालिकजनत्यजनप्रकारम्।

सन्यासनिर्णयमयं विवृणोति दासः श्रीबालकृष्णपदपद्मनिवेशितात्मा॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा यदा देहदेशपरित्यागविषयकं भगवदाज्ञाद्वयं पुरःस्फूर्तिकविचारेण न कृतवन्तः, तदा सेवकत्वात् पश्चात्तापे जाते, लोकत्यागविषयिण्यां भगवतस्तृतीयाज्ञायां जातायां, विचारितवन्तः, किं भगवान् मदुपर्यप्रसन्नोस्ति, नवेति। तत्र यद्यप्रसन्नः स्यात्, उपेक्षेतैव, न त्वाज्ञापयेद्, अतो द्वितीयैव कोटिः, परं तत्र किं कारणमिति विचारे सूक्ष्मटीकानिवृत्याऽतिसर्जनरूपदेशत्यागस्य, माधवभट्टकाशमीरि निवृत्योपचयरूपेदहत्यागस्य च भगवतैवं कारितत्वात् पूर्वाज्ञयोर्देशदेहशब्दौ यौगिकाववगतौ। ततस्तदाज्ञाद्वयं भगवतानेन प्रकारेण साधितमित्येव कारणमिति निश्चित्य पूर्वाज्ञाद्वयवत्तृतीयस्या। अपि दुर्ज्ञेयतां निश्चित्य, यद्यप्याज्ञाद्वयं सम्पन्नम्, तथापि स्वतस्तु न कृतम्। अतस्तदकरणजः पश्चात्तापः कथं निवर्तत इति विचारे करिष्यमाणाज्ञाविषयविचारादेव भगवान् निवारयिष्यतीति निश्चित्य स्वावस्थासूचनपूर्वकं परित्यागनिरूपणं प्रतिजानते पश्चात्तापेत्यादि।

पश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यते।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥

अत्र केचित् प्राञ्चो भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभावजनितस्वपश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागविचारप्रतिज्ञेत्याहुः। अन्ये तु कर्ममार्गीयाणां संसारवैराग्यस्य वार्धक्येप्यभावात् तत्सङ्गवशेन कदाचिद्भगवदीया अपि तादृशा मा भूवन्नित्येतदर्थं सुखोपायस्य सन्यासस्य निरूपणप्रतिज्ञेत्युक्त्वा, शरीरवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा, मयापूर्वमेव भगवदर्थं किमिति न यत्नः कृत इतीदृशो यो भगवदीयानां तापः स पश्चात्ताप इत्याहुः इतरे तु भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च साधनदशायां सिद्धदशायां च परित्यागः कर्तव्यत्वेनोक्तः,

१ श्रीमद्रोकुलनाथचरणाः। २ श्रीमद्रघुनाथचरणाः। ३ श्रीगोकुलोत्सवाः

तत्राद्यायां पूर्णवैराग्याभावेन सम्यक्परित्यागासम्भवात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन पश्चात्तापायैव सः स्यात्, एतत्तारतम्यज्ञानाभावेन भगवदीया अपि पूर्वं परित्यजन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमाचार्य अपि पश्चात्तापमाप्नुयुरिति तदुभयविधपश्चात्तापानुदयाय प्रतिज्ञेत्याहुः। अपरे तु आचार्यैर्निबन्धे “त्रिदण्डं परिगृहीत सर्वशास्त्राविरोधि त”दित्याज्ञापनात्तद्वीक्ष्य पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं परिगृह्णन् पश्चात्तापमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गीयसन्न्यासविचारारम्भ इत्याहुः। अन्ये तु श्रुत्यादिप्रमाणप्रतिपन्नस्य रसात्मकस्य भगवतो विरहात्मकभावानुभवः सर्वात्मभावप्रपत्येकलभ्यः सर्वपरित्यागं विना न सम्भवतीति तस्य त्यागस्य स्वरूपादिकमविदुषां ज्ञानादिमार्गेष्वपि परित्यागस्योक्तत्वात् सन्दिहानानां स्वीयानामविचारतः परित्यागः पश्चात्तापायैव भवेदिति तदभावाय विचारारम्भ इत्याहुः। मया तु तेषां परस्परविसम्मतिमवलोकयान्तः करणप्रबोधग्रन्थस्थपश्चात्तापपरित्यागपदयोरत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव पश्चात्तापोत्र निवर्त्यत्वेनादृत इति न दोषः। ननु भगवदाज्ञाया जातत्वात् तया तत्कर्तव्यतायाः स्वयं च निश्चितत्वाद्विचारस्य किं प्रयोजनमत आहुः स इत्यादि विचारणेत्यन्तम्। स परित्यागः मार्गद्वितये प्रोक्तः, मार्गस्य द्वितयं मार्गद्वितयम्। अत्र सङ्ख्याया अवयवे तयबित्यनेन द्विशब्दादवयवे तयप्। अवयवशब्दश्च “अङ्गं प्रतीकोवयव” इति कोशादङ्गाख्य एकदेशे रूढः, सोत्र न सङ्गच्छते, सङ्ख्याया गुणत्वेन तत्र देशभेदस्य वक्तुमशक्यत्वात्, किन्तु “सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिहे”ति द्वादशस्कन्धे उपादानकारणेपि प्रयुक्त इति तदत्र ग्राह्यम्। तथा च सङ्ख्यायाः कारणं सङ्ख्येयं तदत्र वदति। समासे मार्गस्येत्भेदे षष्ठी, तेन मार्गाभिन्नौ यौ द्वित्वसङ्ख्यासंख्येयौ तयोः प्रकर्षेणावश्यकर्तव्यत्वेनोक्त इत्यर्थः। तत्र कौ तौ मार्गावित्यपेक्षायां, कुतश्च तत्रोक्त इत्यपेक्षायां चाहुः **भक्तौ ज्ञाने विशेषत इति।** भक्तिमार्गे आरम्भदशायां सिद्धदशायां च, ज्ञानमार्गे विविदषादशायां विद्वद्दशायां च वैराग्याद्यतिशयरूपं विशेषमभिप्रेत्योक्त इत्यर्थः॥१॥

ननु “योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया, ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चेत्य” एकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् त्रयोपि योगा नृणां श्रेयः साधकत्वात्तुल्या इति कर्ममार्गे कुतो नोक्त इत्यत आहुः **कर्ममार्ग इत्यादि।**

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥

चातुराश्रम्यपक्षेण यद्यपि कर्ममार्ग उक्तस्तथापि “कर्मयोगस्तु कामिना”मिति भगवता तस्य कामाधिकारकत्वेनोक्तत्वात्परित्यागस्य च वैराग्याधिकारकत्वात्तत्र न कर्तव्यः। यद्यपि “वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाथ दुःखित” इत्यङ्गिरसा आतुरभयभीतयोरप्युक्तस्तथापि कलिकालतः

१ श्रीद्वारकेश्वराः? २ श्रीगोपेश्वराः।

कलिकालं प्राप्य सुतरां न कर्तव्यः। कलिवर्ज्येषु सन्न्यासस्यापि गणानित्यर्थः। तर्हि मास्तु कर्ममार्गे तस्य कर्तव्यता, तथापि यत्रोक्तस्तेनैव यथा कर्तव्यो, विचारस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः अतः इत्यादि। अतः तत्तन्मार्गे तत्तद्दशायां परित्यागस्योक्तत्वात् **भक्तिमार्गे आदौ** आरम्भे कर्तव्यत्वमभिप्रेत्य विचारणा यथा कथञ्चित्सञ्जातभक्तेः पुंसो भक्त्युत्कर्षजनकश्रवणादिनिर्वाहार्था एका आरम्भदशा, तैरभ्यस्तैरासक्तिसिद्ध्यर्था द्वितीया, तदुत्तरं व्यसनसिद्ध्यर्था तृतीया, तत्र यस्यां दशायां कलिकालादिकृतदोषसम्बन्धो न भवति तदर्थं तदीयदशाफलस्वरूपप्रकार विचारः क्रियत इत्यर्थः। एवं सार्धेन प्रयोजनमुक्तम्।

अत्रायमर्थः। एकादशस्कन्धस्य सप्तदशेध्याये “यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्। स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्मे व्याख्यातुमर्हसी”त्युद्धवप्रश्ने चातुराश्रम्यं वदता भगवताष्टादशाध्याये “इष्ट्या यथोपदेशं माम्” इत्यादिभिः पञ्चदशभिः सन्न्यासाश्रमरूपः परित्याग उक्तः। तदनन्तरं भक्तिवैराग्ययोराधिक्ये “ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः, सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर” इत्यादिभिः सार्धैर्दशभिरवैधश्च परित्याग उक्तः। अत्र च ज्ञानभक्तिमार्गिणोर्धर्माः समाना एव सङ्कीर्योक्ताः। एवं पूर्वोक्तेषु बोध्यम्। तथा “न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रिया”विति चत्वारो भेदाः सन्न्यासस्य तृतीयस्कन्ध उक्ताः, तेन मार्गत्रयेऽपि तस्य कर्तव्यता। यद्यपि कर्ममार्गे तृतीयस्य चतुर्थे पादे “पुरुषार्थोतःशब्दाद्” इत्यधिकरणस्थे ‘ष्वोच्चारदर्शनाद्’ इत्यादिषु पञ्चसु सूत्रेषु वशिष्ठादीनां ब्रह्मविदामग्निहोत्रादिकर्मकरणाचारदर्शनात्, “जनको ह वै बहु दक्षिणेन यज्ञेनेज” इति ब्रह्मविदोऽपि जनकस्य कर्मकरणश्रुते “स्तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञाचे”ति श्रुतौ विद्याकर्मभ्यां फलारम्भश्रावणात्, “ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीत” इति कल्पश्रुतौ ब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मत्वेन त्विक्त्वश्रावणात्, “आश्विनं धूम्रललाममालभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत्, ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभेत य आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीथो यो ब्राह्मणः सन्नातृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति। यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयाद्” इत्यादिश्रुतिभिः कर्मकरणस्य नित्यताश्रावणात्, कर्मणश्च दम्पत्यधिकारकत्वाज्जैमिनिमते आश्रमपक्ष एव, यथा कथञ्चित्कर्मकरणाशक्तौ सर्वत्यागकरणम् ‘यदहरेवे’त्यादिश्रुतिस्तु कर्माशक्ततदनधिकार्यन्धपङ्क्तादिविषयेति न तद्वैयर्थ्यमिति कर्मविचारकजैमिनिसिद्धान्तात् कर्ममार्गे न कर्तव्यः। अथ “तुल्यं दर्शनम्” इत्यादिसूत्रेषु शुकसंवर्तारुणिजडभरतदृष्टान्तेन दर्शनस्य साधारणतया कर्मावश्यकत्वासाधकत्वात्तेनैव च परित्यागस्यान्धपङ्क्त्ववाद्यधिकारकत्वनिरासेन जैमिनिमते प्रब्राजश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् “एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे, एतद्ध स्म वैतत्पूर्वं विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे” “एतावदरे स्वल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवब्राजेत्” इत्यादिभिर्बह्वीभिः श्रुतिभिः प्रब्राजबोधनेन कर्मकरणश्रुतेरसार्वत्रिकत्व निश्चायनात्। ‘ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे’इति अत्रापि ब्रह्मपदेन वेदस्याभिप्रेततया तद्विद एवात्विज्यबोधनेन

तथा श्रुत्या ज्ञानस्य कर्मशेषताया आपादयितुमशक्यत्वात्। “आश्विनं धूम्रललामम्”
 इत्यादिषु कर्मनियमवत् “न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुर्”
 इत्यादौ त्यागनियमस्यापि श्रावणेन रागोपाधिक एव कर्मनियम इति निश्चयेनाविशेषात्,
 उत्तरे वयसि तुरीयाश्रमतया द्रव्ययज्ञत्यागेपि जरामर्याग्निहोत्रश्रुत्या तत्सिद्धौ
 यावज्जीवाग्निहोत्रादिश्रुतेरप्यबाधाच्च जैमिन्युक्तदूषणपरिहारे जाते
 कर्ममार्गीयचातुराश्रम्यपक्षस्याक्षुण्णत्वात् कर्ममार्गे परित्यागः कर्तव्यत्वेनायाति, तथापि
 “अग्निहोत्रं गवालम्भं सन्न्यासं पलपैतृकं, देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च
 विर्वजये”दिति वर्जनस्मृत्या कलिकालतस्तत्र न कर्तव्यः। यदि च, “यावद्
 वर्णविभागोस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते। सन्न्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ
 युगे”इति प्रतिप्रसवात् कर्ममार्गेपि कर्तव्यत्वं त्यागस्य विभाव्यते, तदापि जाबालश्रुतौ
 चातुराश्रम्यपक्षं पूर्वमुक्त्वा, ततः “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वाथ
 पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव
 विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे”दिति समाप्तौ विरागस्यैव सर्वत्राधिकारत्वेन श्रावणात्,
 एकादशस्कन्धे “यदा कर्मसु काम्येषु लोकेषु निरयात्मसु। विरागो जायते
 सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्तत” इत्यादिना वैराग्य एव तस्य पक्षस्य भगवता कथितत्वात्
 कलौ च सर्वधर्मशून्ये वैराग्यस्यासम्भवात् सुतरां न कर्तव्यः। अतश्चातुराश्रम्यपक्षेण
 प्राप्तस्येदानीमधिकाराभावाद्यदा ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा वा भवति, तदा तस्मिन्मार्गे
 कर्तव्यः। तत्र स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वेन भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादादौ पूर्वं विचारणा
 तत्प्रकारचिन्ता क्रियते, तथा च स यद्येकस्मिन्नेव मार्गे उक्तः स्यात्, यदि वा
 मार्गत्रयेप्येकविध एवोक्तः स्यात्, तदा भगवदाज्ञावाक्ये सन्देहाभावान्न विचार्यः
 स्यात्, अस्ति तु सर्वत्रोक्तः, तत्र कः कीदृशो वा भगवदाज्ञाविषय इति निश्चेतुं
 विचार्यत इत्यर्थः॥२॥

एवं प्रयोजनमुक्त्वा विचारमारभन्ते श्रवणादीत्यादि।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात्॥३॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥४॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।

स्वयं च विषयक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः॥५॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥

श्रवणादीनां नवविधभक्तीनां प्रकर्षेण अविच्छेदेन सिद्ध्यर्थं परित्यागः
 कर्तव्यश्चेत् सः पक्षः नेष्यते नाङ्गीक्रियते। अयमर्थः। भगवता हि नृणां श्रेयोविधित्सया

ज्ञानकर्मभक्तिरूपं मार्गत्रयमुक्तम्, निर्विण्णाः, कामिनः, न निर्विण्णा नासिसक्ताश्चेति यथायथं तदधिकारिणश्चोक्ता एकादशे 'योगास्त्रय' इत्यादिना। त्रिष्वपि सन्न्यासश्च तत्र निरूपितः। तथा 'न कर्मणे'ति श्रुतौ च त्यागस्य अमृतत्वरूपं फलमुक्तम्। तच्च फलं मार्गादेव, न तु केवलात् त्यागात्, त्यागस्य तत्तन्मार्गाङ्गत्वेन तत्र फलश्रुतेरर्थवादत्वस्यैव विचारितत्वात्। "यन्न योगेन साङ्ख्ययेन दानव्रततपोध्वरैः, व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपी"ति वाक्ये त्यागमात्रेण स्वप्राप्तभावस्य भगवता कथनाच्च। अतस्तस्य कथञ्चिदुपकारकत्वमेव। तत्राधिकारश्च वैराग्यात्, तद्यथा यथोत्कृष्यते तथा-तथा त्यागो मार्गस्योपकरोति। तस्योत्कर्षश्च कथं स्यादिति विचारे केवलादृष्टमात्रेण तदसम्भवान्मार्गानुकूला दृष्टसामग्री श्रवणाद्यविच्छेदरूपा ग्राह्या। अतस्तसिद्ध्यर्थं त्यागः कर्तव्यश्चेत्, स पक्षो नात्रेष्यते, न भगवन्मतेङ्गीक्रियते। अयमर्थः। भगवता हि "यदा कर्मविपाकेष्वि" इत्यादिभिः साधनदशापन्नस्य परित्यागकथने अटनमेव तस्योक्तम्, न तु क्वचित्स्थित्वा श्रवणादिकरणम्, ततो "ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षक" इत्यादिभिः साधैर्नवभिः परित्यागं सिद्धदशापन्नयोर्ज्ञानिभक्तयोरुक्त्वा ततो ज्ञाननिष्ठस्यापरोक्षज्ञानाभावे "दुःखोदकेषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्" "अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपब्रजेत्। तावत्परिचरेद्भक्त्या श्रद्धावाननसूयकः, यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गरुमादृत" इति द्वाभ्यां विविदषासन्न्यासोपि सङ्गृहीतः। ततो "यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः, ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति। सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा। अविपक्वकषायोष्मादमुष्माच्च विहीयते" इति द्वाभ्यां ज्ञानवैराग्यराहीत्ये अविपक्वकषायत्वाल्लोकद्वयहानिरुक्ता। भक्तिमार्गीयस्य तु साधनदशायां सन्न्यासे किमप्यधिकं नोक्तम्, किन्तु "भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसे"त्यादिद्वाभ्यां सङ्क्षेपेण चातुराश्रम्यधर्ममुक्त्वा "इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक्। सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम्" इति फलोक्तिपूर्वकं चातुराश्रम्यधर्मनिरूपणमुपसंहृतम्। तेन भक्तिमार्गीयस्यापि तत्र सन्निहितो भिक्षुधर्म एव मुख्य इति सिध्यति। एवं सति यदि श्रवणाद्यर्थं सन्न्यासं क्रियेत, तत्स्वरूपेण तद्धर्मैश्च विरोधः स्यादित्याशयेन प्रथमं सन्न्यासस्वरूपविरोधात्मकं दोषं व्युत्पादयन्ति सहायेत्यादि। सन्न्यासस्वरूपं हि जाबालश्रुतौ "तद्वैके प्राजापत्याम्" इत्यारभ्य 'एवमेवैतद्भगवन्' नित्यन्तेनोक्तम्, तदेवैकादशस्कन्धे "इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्वा सर्वस्वमृत्विजे। अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेद्" इत्यनेनोक्तम्। तथा सति "अग्न्युपचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानतः" श्राद्धाष्टकं विधाय प्राजापत्यामिष्टिं कृत्वा मन्त्रेणाग्नीन् स्वप्राण आवेश्य नैरपेक्ष्येण सर्वत्र परिभ्रमणमिति सिध्यति। श्रवणादिकं तु सहायसङ्गसाध्यम् सहायः समानशीलतया सहकारी, तत्सङ्गेन साध्यम्। नहि श्रावयितारं विनाश्रवणं सिध्यति, न वा श्रोतारं विना कीर्तनम्। तौ च नैतेन सह परिभ्रमत इति न श्रवणकीर्तनयोः सिद्धिः। प्रवृत्त्यर्थमिति पाठे तु प्रकर्षेण वृत्तिर्विद्यमानतेति पूर्वोक्त एवार्थः अथैतेन सह परिभ्रमतस्तदा नैरपेक्ष्येण सर्वत्रैकाकिपरिभ्रमणरूपं सन्न्यासस्वरूपं विरुन्धः

(स नेष्यत इत्यर्थः)। किञ्चेदानीमुत्कटमेधाविशेषाभावात् श्रुतमपि स्वरूपलीलादिकं न हृदि तिष्ठतीति तत्स्थित्यर्थं पुस्तकादिकं रक्षणीयम्, अर्चनार्थं तदुपकरणमपि रक्षणीयम्, तदपि नैरपेक्ष्यं विरुणद्धि। अतः श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्तत्साधनानां रक्षणाच्च सन्न्यासस्वरूपविरोधतः **स नेष्यत इत्यर्थः**। यद्वा, ‘यस्त्वसंयतषड्वर्ग’ इति द्वाभ्यमसंयतषड्वर्गस्य त्रिदण्डोपजीवने बाधकं कथयता भगवता पूर्वोक्तत्रिदण्डिसाधनरक्षणं सूच्यते, तद्रक्षणं च ‘एकश्चरेन्महीमेता’मित्यानिभिर्ये धर्माः पूर्वमुक्तास्ते एव कर्तव्यत्वेन सिध्यन्ति, न तु श्रवणादिकम्, एकचरणे सहायसङ्गभावात्, सत्यपि सहायसङ्गे स्थितेः कर्तुमशक्यत्वात्। तथा च सन्न्यास उक्तानां साधनानां सन्न्यासे अवस्थाचरणात्। एवं सत्यत एव परस्परस्वरूपविरोधेन तथेत्यर्थः। यद्यपि मूले स्वरूपविरोधत इति पदं नास्ति, तथाप्यग्रे तद्धर्मैश्च विरोधत इति चकारदर्शनात् मयैवं व्याख्याने समुचित इति न दोषः। अथ त्रिदण्डिनोपि चातुर्मास्य एकत्रस्थितेः स्मरणात् भगवतापि “विविक्तक्षेमशरणो मद्भावाविमलाशय” इति कथनात् साधनरक्षणपूर्वकं स्थित्वा श्रवणादिसाधने को दोष इत्याकाङ्क्षायां परस्परधर्मविरोधरूपं दोषान्तरं व्युत्पादयन्ति **अभिमानादित्यादि**। अभिमानो गर्वः, अहन्ता-ममतात्मको वा, तस्मात्, स्थितौ हि, तत्र “भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगह्यान् वर्जयंश्चरेत्, सप्तागारानसङ्कूललृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता। बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः। विभज्य याचितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृत”मिति द्वाभ्यामेको भिक्षाप्रकार उक्तः। तत्र सप्तागारेषु कस्यचित् दुष्टान्ने प्राप्ते तद्दोषमज्ञात्वा च तस्य भक्षणे कृते विविदिषादशायामिव श्रवणादिसाधनदशायामपि ग्रन्थापिक्षपातेन शरीराभिमत्या च प्रतिवानिराकरणार्थं पारुष्यावमानयोः सम्भवात्। “अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चने”ति सन्न्यासधर्मेषु भगवदुक्तस्यातिक्रमेण **तद्धर्मविरोधः**। किञ्च **नियोगात्** नितरां योगो नियोगः, “तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणा”मिति द्वितीयस्कन्धवाक्यात्तेषामावर्तनं तस्मात्। न हि सकृत् कृतं श्रवणादिकं प्रेमभक्तिं जनयति, किन्त्वावर्त्यमानम्, आवृत्तिश्च स्थित्या, सा च “एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः। आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शन” इत्याद्युक्तैः परित्यागधर्मैर्विरुध्यते। अतो हेतुद्वयोपपादिताद्धर्मविरोधादपि तथेत्यर्थः। ननु मास्तु श्रवणाद्यर्थं सन्न्यासरूपो वैधः परित्यागः, तथापि गृहादीनां विषयासक्तिजनकतया भगवदासक्तिबाधकत्वेनावश्यं त्याज्यत्वात्। “ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः। सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर” इत्युक्तरीतिकस्य त्यागान्तरस्य भगवदासक्तिसाधनार्थं करणे को दोषः, तादृशत्यागे च स्वरूपधर्मविरोधरूपपूर्वोक्तबाधकाभावात्, वैराग्यस्य ज्ञानाजनकत्वं यदा, तदा गृहत्यागः कर्तव्य इति पक्षस्य नलकूबरमणिग्रीवस्तुतितात्पर्यनिरूपण प्रसङ्गे निर्णीतत्वाच्चेत्याशङ्कां परिहर्तुं व्युत्पादयन्ति गृहादेरित्यादि। गृहधनादेर्भगवदासक्तिबाधकत्वेन साधनार्थं भगवदासक्ति

साधनार्थं, यदि तथा अवैधत्यागः कर्तव्यश्चेत् सोपि नेष्यत इत्यर्थः। नेष्यत इति पदद्वयं अत्राप्यनुषज्यते।

एवमनूद्य परिहरन्ति अग्रेऽपीत्यादिद्वाभ्याम्। त्यागो हि न स्वतन्त्रं साधनमपि तु मार्गाङ्गतयेति पूर्वं व्युत्पादितम्। तथा सति मार्ग एव स्वतन्त्रः साधकः। स च “भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये”ति वाक्यात्पूर्वं श्रवणादिकमेवापेक्षते। तच्च श्रावयित्रादिरूपं सहायम्। ते च “हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परा” इत्यादिना जलभेदे ये निरूपिताः, तादृशास्त्विदानीं दुर्लभा इति “गायकाः कूपसंकाशा” इत्यादिना य उक्ता गायका वा पौराणिका वा मिलन्ति, ते च यथा स्वयं गृहासक्तो विरजिष्यमाणो वा तादृशा एव, न तु स्वत उत्कृष्टाः, अतोऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति, नान्यथा, नोत्कृष्टप्रकारकः। तथा च सङ्गदोषेण स्वाभिप्रेतफलाभावान्नेष्यत इत्यर्थः। अथ यदि तादृशा मध्यमाधिकारिणो मिलन्ति, तदा गृहपरित्यागे को दोष इत्याशङ्कायां स्वीयदोषादपि तथात्वमाहुः स्वयं चेत्यादि। चोप्यर्थे। स्वयमपि विषयाक्रान्तः। ‘इन्द्रियैर्विषयाकृष्टै’रिति न्यायेन पञ्चेन्द्रियविषयाकृष्टमानसस्तानभिध्यायन् पाषण्डी स्यात्, “कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्, इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते” इति गीतावाक्यात् तादृशः सन्नुपधर्मात्मकाधर्मशाखाच्छायास्थः पाषण्डी स्यात्। तत्रा कालस्यापि सहायतामाहुः तु कालत इति। तु पुनः धर्मप्रतिपक्षरूपात् कलेरपि तथा स्यात्। अतस्तादृशानां सङ्गेऽपि पाषण्डित्वात् पतितः स्यादतो नेष्यत इत्यर्थः। अथ “कलिं सभाजयन्त्यार्या” इत्यादिवाक्यैः कलेः (श्रवण) कीर्तनाद्यनुगुणत्वेन गृहत्यागे दोषाभावो विभाव्यते, तदापि दोषमाहुः विषयेत्यादि। सत्यं कालः कीर्तनानुगुणः, तथापि फलांशे एवानुगुणो, न तु साधनस्वरूपांशे, तेषु वाक्येषु तथैवोपलम्भात्। अतो विषयाक्रान्तदेहानां पूर्वोक्तरीत्या विषयारूढस्थूललिङ्गशरीराणां कालतः कलेः सकाशात् हरेरावेशः सर्वदा न भगवच्चित्तता सर्वदा न भवति, किन्तु कदाचित्, तथा सति यदा आसुरावेशः स्यात्तदा पूर्वोक्तस्य सर्वस्य प्रतिबन्धात् पाषण्डित्वमेव भवेत्। अतो नेष्यत इत्यर्थः। कामत इति पाठे तु काम इच्छा, तथा च विषयकामनया तथा स्यादित्यर्थो बोध्यः। तदेतन्निगमयन्ति अतोत्रेत्यादि। अतः उक्तेभ्यो दोषेभ्यः, अत्र काले, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधने साधनदशायाम्, तादर्थ्यसप्तमीपक्षे आसक्तिसाधनार्थं वा, त्यागो गृहपरित्यागः नैव सुखावहः। इदानींतनवीतरागिवत् पाषण्डित्वमापादयन् भगवदासक्तिरूपं सुखं न जनयति, तस्मात् मध्यमायामपि साधनदशायां सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः। अत्र भक्तिमार्गे भगवता कर्तव्यत्वेन प्रोक्तस्य परित्यागस्य प्रेमभक्तिसाधनदशायामकर्तव्यत्वे साधिते पारिशेष्यात् तत्सिद्धत्वदशायां फलोपकार्यङ्गत्वेन कर्तव्य इति सिद्धम्॥३-६॥

तत्र “भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतपे”ति गीतायां भगवद्वाक्यात् फलस्य त्रयी विधा। तत्र कस्मै फलाय कर्तव्य इति

विचारणायां प्रवेशस्य मत्कर्मकृन् मत्परम इति वाक्योक्तसाधनान्तरसापेक्षत्वात्ततः
पूर्वमुक्तयोर्ज्ञानदर्शनयोरर्थे कर्तव्य इत्याशयेनाहुः विरहेत्यादि।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते॥८॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्यासेन विशेषितात्।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि॥११॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।

गुणास्तु सङ्गरहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि॥१२॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥

दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा॥१३ १/२॥

विरहस्यानुभवो विरहानुभवः, विरहसामयिको वानुभवो विरहानुभवः, विरहानन्तरोनुभवो वा विरहानुभव इति त्रिधा सम्भवति, तदर्थं कर्तव्य इति फलति, तत्राद्ये पक्षे जीवस्य सृष्ट्यादौ व्युच्चरणाज्जातो यो विरहस्योद्धोषन आसक्त्या कृते तस्याभीक्षणमनुभवार्थं, द्वितीयपक्षे तु, भक्तियोगामायाभ्यां सह कृत्यासक्तिभ्रमन्यायेनोत्पादितोऽध्यासरूपो यो भगवदनुभवस्तदर्थं, तृतीयपक्षे तु 'तासामाविरभू'दित्यादिनोक्तो यः साक्षात्काररूपोऽनुभवस्तदर्थं, तथा चैवं त्रिविधो विरहानुभवोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तद्विरहानुभवार्थं, क्रियाविशेषणमेतत्। तदर्थं तद्यथा स्यात्तथा परित्यागः प्रशस्यते। एकादशस्कन्धे भगवता "वाग्ददा द्रवते यस्य चित्त"मित्यनेनात्यन्तं स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्यः। अत्रायमर्थः। पुष्टिमार्गीयाणां जीवानां भगवद्रूपसेवार्थं कायात् सृष्टिः। ते तु जीवाः शुद्धमिश्रभेदाद् द्विधा। तत्र मिश्राणां कदाचिदन्यासक्त्या वाहङ्कारेण वा मर्यादास्थापनार्थं वा शापादिना भगवद्वियोग इति पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थितम्। तथा गद्येऽपि सहस्रपरिवत्सरमितकालाद्व्युच्चरणेन भगवद्वियोगः। स च केनचित्प्रकारेण वाऽनन्यभक्त्या वा भगवता निवार्यते। भक्तिमार्गाश्च बहुविधाः। तत्रास्मिन्मार्गे यदा निवारयितुमिच्छति तदा तस्य केनचित्प्रकारेण विरहौत्कट्यमुत्पादयति।

किञ्च, माया ह्यन्यत्र स्थितमन्यत्र प्रत्याययतीति “ऋतेर्थं यत्प्रतीयेत” इत्यत्र सुबोधिन्यां स्थितम्। भगवांश्च रसलीलायां योगमायामुपाश्रयतीति पञ्चाध्याय्यारम्भे स्थितम्। सा च न विश्वमायाऽपि तु भगवद्योगार्थं माया। एवं सति यदा भगवानेन जीवं युयुक्षति, तदास्य योगमायया स्वाज्ञानं विरहं चोत्पादयति, अनन्यभक्तिश्च परमा तिरोधाननाशिका। अन्तर्बहिश्च भगन्तमनुभावयति। भगवांस्तु सर्वमन्तर्बहिव्याप्नुवानोपि विरुद्धधर्माश्रयत्वात् परिछिन्नः। एतन्मार्गे च भगवतो बहिः प्राकट्यमेवाभीष्टं, तदैवेश्वरवादोन्यदा शून्यवादः। एवं सति युयुक्षाविषयस्य भक्तस्यानन्यभक्तिकृतो योन्तःसाक्षात्कारस्तस्य बहिष्कृमापादयन्ती माया आसक्तिभ्रमन्यायकं करोति। तादृशो यः साक्षात्कारः, सर्वात्मभावजन्यो भूमविद्यायां सर्वविधप्रत्ययविलक्षणतया सिद्धः, स एव विरहानुभवपदेन बोधितः। तदर्थं यः परित्यागः स एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये भगवता अत्यन्तं स्तूयते। किञ्च, विरहानन्तरभावी अनुभवो बहिः साक्षात्काररूपं सम्यग्दर्शनं, तदर्थं यः परित्यागः स भगवता प्रकर्षेण, “यथा अधनो लब्धधने विनष्टे” इति सार्धद्वाभ्यां पञ्चाध्याय्यां स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्य इत्यायाति। एतयोराद्यस्य प्रशंसा व्युत्पाद्यते। तथा हि, “वदन्ति कृष्ण श्रेयांसी”त्यादिना वैदिकोक्तसाधनानां भगवदुक्तभक्तेश्च तारतम्ये पृष्टे, भगवता “धर्ममेके यशश्चान्य” इत्यादिना भक्तेः फलोत्कर्षं “अकिञ्चनस्य दान्तस्ये”त्यनेन स्वरूपोत्कर्षं, “न पारमेष्ठ्यम्” इत्यादि भिरनन्यभक्तोत्कर्षं ‘निःकिञ्चना’ इत्यनेन स्वसुखोत्कर्षं, ‘बाध्यमानोपी’ति द्वाभ्यां स्वभक्तेर्बलवत्त्वं, ‘न साधयती’त्यनेन स्ववशीकर्तृत्वं, “भक्तिः पुनाती”त्यर्थेन भक्तेरत्यन्तपावनत्वं, ‘धर्मः सत्ये’ त्यनेन धर्मादीनामतादृशत्वं चोक्त्वा, “कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशय” इत्यनेन ऊर्जितां भक्तिं लक्षणैः परिचाययित्वा, ततो “वागद्गदा द्रवते यस्य चिन्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाती”त्यनेन विरहावस्थाव्यञ्जनपूर्वकं तादृशभक्तिमानत्यन्तं स्तूयते। अतस्तस्यां दशायां जातायां तदर्थं कर्तव्य इत्यर्थबलादायाति। तथा तत्रैव द्वितीयाध्याये कविनापि ‘मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य’ “यानास्थाय नरो राजन्” इत्यादिभिर्भगवद्धर्मानुपक्रम्य, “शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके। गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः। एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित उच्चैः। हसत्यथोरोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः। खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतीषिं सत्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः। भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यचिष त्रिक एव कालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासं। इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोनुवृत्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षाद्” इत्यन्तेनोच्यते। एतत्सुबोधिन्यां च प्रथमस्कन्धीये ‘नामान्यनन्तस्ये’ति नारदवाक्ये कर्मज्ञानभक्तीनां त्रयाणां फलसाधकस्तत्रितयानुकल्पो

य उक्तस्तत्स्वरूपमत्र कविनोच्यत इत्येवमवतार्यैते पञ्चश्लोका व्याख्याताः। तत्र प्रथमे “आदौ गृहान्निर्गत” इति कथनेन त्यागावस्था बोधिता, भगवज्जन्मादिश्रवणं तद्गानं विचरणं लज्जाभावश्च, अनुकल्पस्वरूपत्वेन बोधितः। ततो द्वितीये ‘एवं व्रत’ इत्याद्युक्तैरष्टधर्मैः प्रकृत्युल्लङ्घनेनालौकिकत्वरूपं लोकबाह्यत्वं बोधितम्। तेन विरहानुसन्धानावस्थैव स्फुटीकृता। ततस्तृतीये एवं विचरणकर्मणा लोकपरित्यागेन ज्ञानभक्ती एकहेलया युगपन्निरूपिते। तत्र खादिषु समुद्रान्तेषु लौकिकप्रत्यक्षविषयेषु प्रणमनक्रियाकर्मत्वं हरिशरीरत्वेनोच्यते। तेन तेषु तथात्वज्ञानमर्थादाक्षिप्यते। अत आक्षिप्तेन ‘ज्ञात्वे’ इत्यन्तेन ज्ञानं ‘प्रणमेदनन्य’ इत्यनेन साधनभक्तिर्बोद्ध्या। ततश्चतुर्थपञ्चाभ्यां दृष्टान्तपूर्वकं परमभक्तिभगवज्ज्ञानतदितरविरक्तीनां युगपद्भवनेन साक्षात्परमशान्तिरूपं फलमुक्तम्, तेनापि कर्मज्ञानभक्तीनां यत्परमं फलं तदनेन मार्गत्रितयानुकल्परूपेण परित्यागेन भवतीति तादृशत्यागप्रशंसैव सुबोधिन्युक्तप्रकारेण सिध्यतीति बोध्यम्। नन्वेवं सत्यत्र सन्न्यासवेशः कुतो नोक्त इत्यत आहुः स्वीयेत्यादि। स्वीयाः पुत्रदारादयः तत्कृतो यो बन्धः, स्वस्य तेष्वसक्त्यभावेपि तेषां स्वस्मिन्याऽऽसक्तिस्तन्निवृत्त्यर्थं, अत्र अस्मिन्भक्तिमार्गीये सन्न्यासे, स वेशः, त्रिदण्डकौपीनधारणादिवेशः। न चान्यथा चोवधारणे, अन्यथा तत्कृतबन्धाभावे सति, न च नैवापेक्षितः, अतो यस्य बन्धसम्भावना तस्य स वेश आवश्यको, नान्यस्येत्यसार्वत्रिकत्वान्नोक्त इत्यर्थः। ननु भगवदुक्तेषु प्रशंसावाक्येषु परित्यागो न प्रकटतया प्रतीयते, कविवाक्येषु च ज्ञानमिश्रभक्तेः प्रशंसाप्रतीयते। खं वायुमग्निमिति वाक्यात्। तथा सति शुद्धभक्तिमार्गीयस्य त्यागस्य प्रशंसा कथं निश्चेतुं शक्या, तत्प्रसिद्ध्यभावादित्याकाङ्क्षायां तत्प्रसिद्ध्यर्थमाहुः **कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरव इति।** कौण्डिन्यो ह्यनन्तदोरकस्याग्नौ प्रक्षेपेणोत्पन्नादपराधाद् दारिद्र्यमापन्नः स्वपत्न्याः शीलाया वाक्यादनन्तापराधजन्यं तद्बुद्ध्वा निर्विण्णोऽनन्तं ध्यायन् क्वद्रक्ष्यामीत्याशया गृहाद्वनं निर्गतो, निरशनं व्रतं ब्रह्मचर्यं च कृत्वा हरिं जपन् निर्जनेरण्ये चूतवृक्षं गोप्रभृतींश्चेतनानचेतनांश्च बहून् प्रपच्छ, तैः सर्वैरपि नानन्तोस्माभिर्दृष्ट इत्युक्ते विह्वलीभूतो जीविते निराशो दीर्घमुष्णं च निश्वस्य भूतले पपात, ततः किञ्चित्कालोत्तरं संज्ञां प्राप्यानन्तेति जल्पन् तस्मिन्क्षणे सुनिर्विण्णोऽभूत्। ततः कृपयाऽनन्तदेवोपि वृद्धब्राह्मणरूपेण प्रत्यक्षीभूय ‘इत एही’ त्युक्त्वा पातालं प्रवेश्य, कौण्डिन्यं दक्षिणे करे गृहीत्वा स्वपुरीं दर्शयामास। तत्र दिव्यसिंहासनस्थितं स्वात्मानं च स्वायुधगरुडाद्युपशोभितं दर्शयामास। ततस्तं दृष्ट्वा परया मुदा प्रसन्नः कौण्डिन्यः “पापोहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः। त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत। अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम्। यत्तवांग्रियुगाम्भोजे मन्मूर्द्धा भ्रमरायत” इति उक्तवान्। भगवांस्तु तस्मै दारिद्र्यनाशनं धर्मं सनातनं विष्णुलोकं च वरं दत्तवानिति भविष्योत्तरे भगवता युधिष्ठिरं प्रत्युक्तम्। तेनायं परित्यागः स्त्यादिकृतबन्धाभावात् सन्न्यासवेषरहितः स्वफलसाधने

साधनान्तरापेक्षारहितः प्रसन्नध्येयसाक्षात्कारफलकः अवैधः शुद्धभक्तिमार्गीयश्चेति सिध्यति। अत एव वेदस्तुतौ “एकदा नारदो लोकान्” इत्यत्र सुबोधिण्यामुक्तम्। “एवमेव च परिभ्रमणं कर्तव्यं यथा कौण्डिन्येन कृतम्” इति। गोपिकानां तु फलप्रकरण एव भगवत्प्राप्त्यर्थं सर्वपरित्यागः पूर्वमुक्तः। ततो मदमानाभ्यां भगवत्तिरोभावे भगवद्विचयनं, ततः प्रसादार्थं गानं, ततो दैन्येन रोदनं, ततो भगवत्प्रादुर्भावः, ततो भगवत्कृता तत्याप्रशंसा, ततो लीलानुभव उक्तः, तत्रापि पूर्ववदेव वेषराहित्यादिकं फलपर्यन्तं सिद्धम्, अतस्त एवात्रैतत्परित्यागप्रवर्तकत्वादुरवः, तथा चैवं शास्त्रप्रसिद्धत्वात्। “एवं मदर्थो ज्ञते” त्यादिना भगवता ब्रजभक्तकृतत्यागस्य प्रशंसनाच्चैकादशस्कन्धीयप्रशंसावाक्यानामप्येतदारम्भावस्थासूचकतयै तत्प्रशंसायामेव तात्पर्यम्। तत्रापि द्वादशाध्याये ‘रामेण सार्धम्’ इत्यादिभिस्तत्कृतसाधनस्यैव प्रशंसनात्, उद्धवस्य तदर्थसन्देह एवाग्रिमग्रन्थावताराच्च। उचितं चैतत्, यदारम्भः प्रशस्तस्तस्य परमा काष्ठा प्रशस्तेति। अतस्तत्परैव सा प्रशंसा निश्चेयेत्यर्थः। अत्र कौण्डिन्यग्रहणं निरपेक्षभक्तानां बहुविधत्वात्तत्कृतपरित्यागार्थं बोध्यम्। एतत्प्रशंसायास्तद्वददर्शनात्, विरहोत्तरभाव्यनुभवार्थमात्रत्वेनैव विवक्षितत्वाच्च। एवं च यो यो यादृग्भक्तिमान् त्यागं चिकीर्षति तस्य तस्य तादृग्भक्ता एवेदृगवस्थाका गुरव इत्यपि बोधितम्। भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ अञ्जसा सिद्धिहेतुप्रश्ने “देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि चे”ति भक्तचरिताश्रयणस्य तथात्वेनोपदेशादिति। एतेषां गुरुत्वं च स्वचरितेनैतन्मार्गप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाददत्तात्रेयगुरूणां पृथिव्यादीनामिव बोध्यमित्याशयेनाहुः साधनं च तदिति। एतेनोपदेशानपेक्षाप्यत्र बोधिता। अत्र विरहानन्तरभाविनां तत्कृतानां साधनानां बहुत्वात्तानि सर्वाणि कर्तव्यान्युत किञ्चिदेकमित्यपेक्षायां तत्सर्वप्रयोजकमादिभूतं यत्साधनमवश्यं विवक्षितं तदत्र कार्यतयेष्यत इत्याहुः भावो भावनयेत्यादि। भगवति परमा रतिर्भावः। “रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत” इति वाक्यात्। सोपि न स्वतः सिद्धो विवक्षितः तस्य स्वाभाविकत्वात्, किन्तु भावनया निरन्तरचिन्तया सिद्धः प्रचितः तादृशस्यैव साक्षात्कारफलकतायाः साधनान्तरसाधकतायाश्च पूर्वोक्तोपाख्यानद्वयेपि सिद्धत्वात्। अतः स एव साधनं, नान्यदिष्यते अन्यद्विचयनादिकं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः। ननु तस्यापि तत्र सत्त्वात् कुतः साधनत्वेन नेष्यते इत्यत आहुः विकलत्वमित्यादि। जडेष्वयोग्येषु च प्रश्नो विकलत्वम्। तथा अस्वास्थ्यं प्रकृत्या स्थित्यभावः। एतत् द्वयं प्रकृतिः विरहावस्थास्वभावः। तत्रापि हेतुः प्राकृतं न हीति। प्रकृतिसम्बन्धि प्राकृतं, स्वस्थावस्थाप्राप्तं न दृश्यते, हि यतो हेतोः तथा च तद्यदि स्वस्थावस्थाहेतुकं स्यात्तदा साधनत्वेनेष्येत। अतस्तदभावान्नेष्यत इत्यर्थः। ननु तर्ह्येकादशस्कन्धे “शृण्वन् सुभद्राणी” इत्यादि श्लोकत्रयोक्तभगवज्जन्मकर्मश्रवणकीर्तनगानादयः सर्वत्र भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानं च स्वस्थावस्थाधर्मत्वात् साधनत्वेनेष्टव्यमेतत्सजातीयधर्मत्वादित्याकाङ्क्षायामाहुः ज्ञानम् इत्यादि। ज्ञानं

सर्वस्य भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानम्। गुणाश्च श्रवणकीर्तनगानविषया भगवद्गुणा अपि, तस्यैव भावनाप्रचितभावस्यैव, वर्तमानस्य तदन्तःकरणादिषु व्याप्तस्य, बाधकाः वर्तमानतानाशकाः, यथायथं शुकादिषु मथुराप्रयातभगवद्वियुक्तविशोकगोपिकासु च दृष्टाः, अतो नेष्यन्त इत्यर्थः। ननु तादृशज्ञानं साक्षात्कारफलकम्, गुणाश्च शोकाभावफलकाः “विशोका अहनी निन्युर्” इति वाक्यात्। अतः विरहानुभवस्वरूपबाधेपि को दोष इत्याकाङ्क्षायां प्रथमतः ज्ञानभावनयोः फलतारतम्यं व्युत्पादयन्ति सत्येत्यादि। सन्न्यासेन विशेषितात् सहकृतात् सर्वत्र ब्रह्मस्थितिबोधकात् परोक्षज्ञानात्, सत्यलोके चतुर्मुखलोके स्थितिः। “वेदान्तविज्ञानसुनिश्चि तार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्व” इति (तैत्तिरीय) श्रुतेः। अस्यां श्रुतौ वेदान्तविषयकनिश्चितपरोक्षज्ञानवतां सन्न्यासिनां शुद्धसत्त्ववत्त्वेन ब्रह्ममुक्तिकाले परामृतं प्राप्य मुक्तिरुक्ता। छान्दोग्ये तु “यथा क्रतुरस्मिन्ल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती” इति मरणानन्तरमेव भावनानुरूपं पारलौकिकतात्कालिकफलं श्रावितम्। अतो यत्र पुरुषे भावना साधनं तत्र तथा तादृशमेव फलं भवेत्। चोवधारणे। तथा च ज्ञाने फलस्य भेदः कालस्य विलम्बश्च दोष इत्यर्थः।

ननु “यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथे” इति गीतावाक्यात् प्रबले ज्ञाने कर्मणां निःशेषनाशात् न कालविलम्बः। “हरेः शरीरम्” इति उक्ततया ज्ञानस्य भगवद्विषयत्वाच्च न फलभेद इत्याशङ्कायामाहुः तादृश इत्यादिसार्धम्। तादृशः प्रबलज्ञानवान् सत्यलोकादौ विद्युद्वरुणेन्द्रप्रजापतिलोकेषु तिष्ठत्येव, तत्रत्यभोगेन स्वप्रारब्धमपनयन्नातिवाहिक वैद्युतपुरुषागमनपर्यन्तं स्वप्रारब्धानुसारेण तिष्ठत्येव न संशयः। परान्तकालप्रतीक्षाऽभावेपि वैद्युतपुरुषप्रतीक्षाया आतिवाहिकाधिकरणे सिद्धत्वात्। ज्ञानप्राबल्येपि तादृशस्य विलम्बे सन्देहो नेत्यर्थः। नन्विदं भावनापक्षेति तुल्यमित्याशङ्कायामाहुः बहिर् इत्यादि। अरणिमथनप्राबल्येन वह्निरिव भावनाप्राबल्येन बहिः प्रकटः स्वात्मा पुरुषोत्तमो यदि वह्निवद्वह्निर्व्याप्त पुनरन्तःप्रविशेत्, तदैव तस्मिन्नेव काले सकलो बन्धो बाह्य आभ्यन्तरश्च नाशमेति, निवर्तते, न चान्यथा अन्यथा न निवर्तते एव। तथा च “यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा येस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नत” इति श्रुत्या तदानीमेव बन्धाभावस्य फलाध्यायद्वितीयपादारम्भे “वाङ्मनसि दर्शनाद्” इति सूत्रे विचारितत्वात् अन्तर्गृहगतगोपिकासु तथैव दर्शनाच्चेति न भावनापक्षस्य ज्ञानतौल्यम्। अतो विलम्बापादकत्वात् ज्ञानं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः। एतेन शुद्धभक्तिमार्गीयत्यागे ज्ञानमिश्रपक्षोपि निवारितः। तर्हि गुणानां तथात्वमस्त्वित्याकाङ्क्षायामाहुः गुणास्त्वित्यादि। तुः शङ्कानिरासे। श्रवणादिविषया गुणाः सङ्गरहित्यात्, भावनासिद्धस्य भावस्याप्राबल्ये भगवतो बहिः प्राकट्याभावेन तत्सङ्गरहित्यादुद्बुद्धे विरहे जीवनार्थं भवन्ति। हि निश्चयेन। विशोकवाक्ये तप्तजीवनवाक्ये च तथैव सिद्धत्वात्। अतो विलम्बापादकत्वेन मध्यमाधिकारे ते उपयुज्यन्ते। अतो मुख्याधिकारे तेपि साधनत्वेन नेष्यन्त इत्यर्थः। ननु यद्येवं गानादिविषयाणां गुणानामपि बाधकत्वम्,

तर्हि भाव्यमानस्य भगवतोपि विलम्बापादकत्वेन बाधकत्वं कुतो न स्यादित्यत आहुः भगवान् इत्यादि। स हि फलरूपः, प्राप्तश्चेत् फलमेव जातं साधनस्य, अतः फलरूपत्वात् साधनावस्थानिवर्तकत्वेपि बाधकत्वेन नेष्यत इत्यर्थः। एतेन येषु बहिः प्राकट्योत्तरमन्तःप्रवेशस्तेषां सद्योमुक्तिः, येषु च बहिः प्राकट्यमेव, नान्तःप्रवेशस्तेषामिहैव लीलानुभव इति मुख्येष्वपि व्यवस्था सूचिता। तेन न कोपि क्वापि विरोध इति ध्येयम्। ननु यदि भगवान् फलरूपत्वान्न बाधकः, तदा फलरूपत्वादेव यथा विजने दर्शनार्थं यतमानाय नारदाय दर्शनं दत्वा तिरोहितः सन् पुनर्दर्शनार्थं यतमानं तं प्रति “हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसी” इति स्वास्थ्यार्थं वाक्यमुक्तवान्, तस्य स्वास्थ्यं च कृतवान्, तथा अत्र कुतो न वक्ति? स्वास्थ्यं च कुतो न करोतीत्यत आहुः स्वास्थ्यं इत्यादि। स्वास्थ्यं च वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यम्, विभाषैकवद्भावः। **स्वास्थ्यसहितं वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यं तत्,** भगवतः न कर्तव्यम् अर्हे तव्यः, कर्तुं योग्यं न भवति। तत्र हेतुः, **दयालुर्न विरुध्यत** इति। अयमर्थः नारदो ह्यविपक्वकषायः परं शुद्धभाव इति तस्य स्वास्थ्यार्थं तिरोहित एव वाक्यमुक्तवान्, स्वास्थ्यं च कृतवान्। प्रकृते त्वन्तर्गृहगतानामिवास्य बन्ध एव तत्कालं नाशनीयः। स बन्धो यदि प्रारब्धकृ तस्तदा भगवद्विरहजतीव्र तापभगवदाविर्भावजाश्लेषसुखाभ्यामेव निवर्तनीयः, भावस्यौत्कट्यात्। यदि तादृशेपि वाक्यं वदेत्, स्वास्थ्यं वा कुर्यात्, तदा सद्योमुक्तिं विरुन्ध्यात्। अतो दयालुत्वान्न विरुध्यते। अयं कर्मकर्तरिप्रयोगः। तथा च स्वास्थ्यवाक्यकरणमेव दयालुं विरुणद्धि। स्वयं तु दयालुर्न विरुध्यते। अतः परमकृपया स्वयमेव शीघ्रं बन्धनिवृत्तिं विधास्यन् तत् द्वयं न करोतीत्यतः स्वास्थ्यवाक्यं कर्तुमनर्हमित्यर्थः ननु यद्येवं तर्हि ‘वाग्ददे’ इत्यादिना भुवनपावनत्वेन यः स्वयं प्रशंसितः, तादृशस्य स्वास्थ्यादिकमपि न करोतीत्याशङ्कायामाहुः **दुर्लभोयम्** इत्यादि। अयं सद्योमुक्तिसम्पादकः परित्यागः तादृशस्यापि दुःप्रापः। तत्र हेतुः। **प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा** इति। तथा च ते यद्यपि परमभक्ताः, तथापि सर्वज्ञत्वात् केचन पुष्टिमिश्राः, केचन गुणज्ञत्वान्मर्यादामिश्राः, न तु शुद्धाः सदा प्रेमप्लुताः स्वरूपमात्रपराः। अतस्तादृगधिकाराभावात् करोतीत्यर्थः। एवमत्र भक्तिमार्गीयत्यागे गुरुद्वयस्य कथनेन फलविलम्बशैद्य तात्कालिकफलकथनेन चावस्थाभेदादिसूचनादधिकारिभेदात् त्रैविध्यं निरूपितम्, स्वरूपं च सपरिकरं विचारितम्, प्रेमभेद एव तत्र-तत्र तादृशाधिकारसम्पादक इति च साधितम्॥७-१३ १/२॥

अतः परं नन्वेकादशस्कन्धीयप्रशंसायाः भक्तिपरमकाष्ठारूपेऽस्मिन् दुर्लभे परित्यागे पर्यवसन्नतायां प्रारम्भदशाकर्तव्यस्य परित्यागस्य विलम्बवत्तया ज्ञानमार्गीयत्यागतौल्येन विशेषाभावादविचारितत्वाच्चैतं विहाय विचारितो ज्ञानमार्गीय

एव कर्तव्यः, किमेतद्विचारेणेत्याशङ्कायां भक्तिमार्गीयस्यारम्भदशायां निःप्रत्यूहत्वं वक्तुं ज्ञानमार्गीयस्य सविघ्नतामतिविलम्बवत्तां च साधयन्ति ज्ञानमार्गे इत्यादि।

ज्ञानमार्गे तु सन्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥

अतः कलौ स सन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्यसेत्॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्॥१६ १/२॥

तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे। ज्ञानमेव मार्गो ज्ञानमार्गः। तत्र द्विविधोपि सन्यासी ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च यथा स्यात्तथा विचारितः। क्रियाविशेषणद्वयमेतत्। उत्तरतन्त्रे तृतीयस्य तुरीये पादे “ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हीति” सूत्रे विविदषोर्ज्ञानोत्पत्त्यर्थतया जातज्ञानस्य फलानुभवप्रतिबन्धनिवारकत्वानान्तरङ्गतया च कर्तव्यत्वेन निर्णीतः। परं सिद्धिः साक्षात्काररूपा जन्मशतैः, न तु शीघ्रम्, “बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ” इति गीतावाक्ये परोक्षज्ञानवतो ‘वासुदेवः सर्वम्’ इति स्वप्रपत्तेर्बहुजन्मान्ते कथनात्। प्रपत्तिरपरोक्षं ज्ञानम्, तस्य विलम्बेन भवने हेतुं व्युत्पादयन्ति ज्ञानं च इत्यादि। ज्ञानं गीतावाक्योक्तरीतिकसाक्षात्काररूपं साधनापेक्षम्, कर्मज्ञानभक्तिरूपं साधनं स्वोत्पत्तावपेक्षते। अत्र प्रमाणम्, यज्ञादिश्रवणात् निष्कामानामपि यज्ञकरणस्य ‘अथाकामयमान’ इति श्रुतौ प्रतिपादनात्, तदेतत् “सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववद्” इति सूत्रे विचारितम्, ज्ञानं च न शमदमादिमात्रेण सम्पद्यते, किन्तु यथाश्रममाश्रमकर्मापि शमादिसहकारित्वेनापेक्षत इति सहकारित्वसूत्रे व्युत्पादितम्। अतः देशद्रव्यादिरूपसाधनवैगुण्येन विहितकर्मात्मकसहकारिशून्यैः केवलैः शमादिभिर्ज्ञानानुदयात् स विविदिषादशोक्तः सन्यासः कलौ पश्चात्तापाय अनन्तरं खेदाय। तर्हि विद्वद्दशोक्तः कर्तव्य इत्यत आहुः नान्यथेति। अन्यथा विद्वत्प्रकारकः कलौ तत्साधनासम्भवान्नेत्यर्थः। किञ्च, न खेदमात्रं किन्तु पाषण्डित्वं चापि भवेत् भिक्षादिशुद्ध्यभावेनोपधर्मसंसर्गवत्वम्, चकारादवकीर्णित्वम्, अपिशब्दात्, “आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्मह” इति वाक्योक्तः पातः सङ्गृह्यते। सिद्धिमाहुः तस्माद् इत्यादि। यस्मात् विविदिषासन्यासस्य कलौ खेदादिजनकत्वम्, विद्वत्सन्यासस्य चासम्भवस्तस्मात् ज्ञानमार्गे वैधं सन्यासं न कुर्यात्, तत्र हेतुः सुतराम् इत्यादि इति स्थितम् इति। कलौ सन्यासं निषेधद्भिः शास्त्रकारैरेव निर्णीतमित्यर्थः। तेन सन्यासप्रतिप्रसवशास्त्रं क्वाचित्कत्वान्न सर्वत्रोपयुज्यत इति बोधितम्। एवमत्र भगवदाज्ञया कर्तव्यस्य

परित्यागस्य विचारणायामेतावत् सिद्धम्।

कर्ममार्गे; जैमिनिमते परित्यागस्याकर्तव्यता, मतान्तरे चातुराश्रम्यपक्षेण कर्तव्यत्वेपि कलिकालादकर्तव्यता, भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वेनोक्तत्वेपि श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं करणे सन्न्यासस्वरूपतद्धर्मयोर्विरोधात् सन्न्यासत्वेन रूपेणावैधत्यागरूपेण चाकर्तव्यता, तथैव स्नेहसाधनार्थं करणेपि प्रेमानन्तरं त्ववैधस्य परित्यागस्य स्वत एव सिद्धिर्मुख्याधिकारिणः। तत्र च नाज्ञापेक्षा, तथैव मध्यमस्यापि। परं तस्य प्रारब्धप्रतिबन्धेनेषद्विलम्बः फले। तथैव ज्ञानमिश्रस्यापि। ज्ञानमार्गे तु विविदषादशायां विचारितोपि कलिकालजदोषसम्भावनान्न कर्तव्यः, विद्वत्सन्न्यासस्य तु कलिदोषेण ज्ञानासम्भवादसम्भव एव॥१४-१६ १/२॥

अतः परं प्रेमारम्भदशायां परित्योगवशिष्यते, तं विचारयितुं प्रश्नमुखेनाशङ्कन्ते भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यम् इति। भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥

अत्रारम्भेन न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥

हरिर्न न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥

भक्तेः प्रेमरूपाया यो मार्गः उपायभूतः परित्यागस्तत्रापि कलिप्रभृतिभिः कृतो दोष उत्पद्यते चेत्तदा तत्परिहारार्थं किं कार्यमित्यर्थः। तत्रोत्तरमुखेन समादधते उच्यते। अत्रे इत्यादि। अत्र प्रेमभक्तावारम्भे आरम्भदशायां परित्यागे नाशः कलिप्रभृतिभिः कृतेन दोषेण तदवस्थातो हीनत्वसम्भवः स न स्यात्। तत्र हेतुः। दृष्टान्तस्याप्यभावत इति। अत्र नाशपदं सप्तम्या विपरिणतं पुनरन्वेति, तथा च अत्रारम्भे नाशेऽनुमीयमाने दृष्टान्तस्या भावात् अपिना दोषान्तराच्च तथा हि उक्तारम्भदशायां गृहत्यागकर्ता नश्यति, तदानीं त्यागकर्तृत्वात्, अत्र यदेवं तदेवमित्यन्वयव्याप्तौ दृष्टान्ताभावः, व्यतिरेके तु यत्र यत्र तादृशत्यागकर्तृत्वे सति नाशाभावः, तत्र तत्र त्यागकर्तृत्वाभाव इति व्याप्तेरेव शून्यता, तादृशत्यागकर्तृत्वे सतीति विशेषणानङ्गीकारे तु तादृशव्याप्ता गृहस्थादिष्वेवानाशसिद्ध्युता तादृशत्यागकर्तृत्वस्यैवालाभ इति दृष्टान्ताभावः यदि तु भक्तिमार्गीयारम्भदशायां तत्यागकर्तृत्वात् अविपक्वकषायत्वाद्वा सङ्गदोषसम्भवाद्वा श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थत्यागकर्तृवदित्यनुमातव्यम्, तदाप्यसङ्गतम्, नारदपूर्वजन्मदृष्टान्तेन आद्ययोः साधारणत्वात्, तृतीयस्य तु “गायन्विलज्जो विचरेदसङ्ग” इति वाक्येन

स्वरूपासिद्धत्वात्। पूर्वोक्तदशायां गृहत्यागकर्ता न नश्यति, पूर्वोक्तारम्भदशायां त्यागकर्तृत्वात्, पूर्वजन्मीननारदवदिति प्रत्यनुमानेन निरस्तत्वाच्च। न चेदमप्रयोजकम्। नारदपूर्वजन्मकथासन्दर्भीयवाक्यैस्तादृशां नाशस्यैवासिद्धत्वादिति। अनेनैव हेतुना नाशानुमाने तु सिद्ध एव दृष्टान्ताभाव इति सुष्ठूक्तं दृष्टान्तस्याप्यभावत इति। किञ्च अयं त्यागो हि भगवद्धर्मः। “धर्मान्भागवतान् ब्रूतेत्” इति निमेषः प्रश्ने कविना “ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये। अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्” सति लक्षयित्वा “कायेन वाचे” इत्यादिभिः कथ्यमानेषु “गायन् विलज्जो विचरेदसङ्ग” सत्यनेनासङ्गविचरणरूपस्य त्यागस्यापि बोधनात्। भगवद्धर्मस्यारम्भेऽपि न ध्वंस इत्यपि भगवतैवोक्तं “न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्दवाण्वपी” इति। तथा चातोऽपि न नाश इत्यर्थः। न चैवं सति श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कृते त्यागे कथं ध्वंस इति शङ्क्ययम्। तस्यां दशायामज्ञानात्तत्करणेन उपक्रमत्वाभावात्। “ज्ञात्वारम्भ उपक्रम” इति कोशेन ज्ञात्वारम्भस्यैवोपक्रमत्वादिति। ननु मास्तु नाशस्तथापि देहरक्षणार्थं भिक्षादेरावश्यकत्वात् पलविलम्बसम्पादको बाधः केन वार्येतेत्यत आहुः स्वास्थ्ये इत्यादि। त्यागिनः स्वास्थ्यस्य हेतुर्हि विगर्ह्यभिन्नेषु चतुर्षु वर्णेषु भिक्षा तस्यास्त्यागात्। “चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोप्यशुष्यन्। रुद्धा गुहाः किमजितोवति नोपपन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्” इत्युक्तरीत्या त्यागात्। यद्वा, अत्र स्वास्थ्यहेतुपदं परित्यागविशेषणम्, **परित्यागाद्** इति। ल्यब्लोपे पञ्चमी। तथा च स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः स्वरूपावस्थित इति यावत्। तस्य भावः **स्वास्थ्यम्**, तद्धेतुर्यः परित्यागस्तं प्राप्य जीवन्मुक्त एव जात इति। अस्यैतादृशस्य बाधः केन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः। नन्वेवमविद्याकामादीनां बाधकत्वाभावेऽपि कालादिभिर्बाधः केन वार्येतेत्याकाङ्क्षायां कैमुतिकन्यायेनाबाधमुपपादयन्ति हरिरित्यादि। हरिः स्मर्तुः सर्वाधदुःखहर्तारिर् सोऽपि अत्रास्मिन् परित्यागे **बाधां कर्तुं न शक्नोति**। अस्य भगवद्धर्मस्य स्वयमेवोक्तत्वात्, “वक्ता कर्ता विना नान्यो धर्मस्याच्युत ते भूवी” इति वाक्येन स्वयमेवावनाच्च। तथा सति अपरे कालादयः कुतो हेतोः कर्तुं शक्नुयुः। ते हि भगवदधीना इति न तत्कृतोऽपि बाधसम्भव इत्यर्थः। अत्र तर्कमाहुः अन्यथे इत्यादि। अत्र पुपुषुरिति अत्यन्तापह्वे लिङ्गुक्तव्य इति वार्तिकाल्लिट्। तथा च स्वधर्मोत्पादको रक्षकश्च भगवानेव यदि बाधां कुर्यात्, तदा मातरो जनयित्यः बालान् स्वोत्पन्नान् यत्स्तन्यैः पुष्णन्ति, तन्न पुपुषुः, ततश्च तत्कृतं पोषणमत्यन्तापह्वतमेव स्यात्, तथा च भगवत्कृतो बाधस्तर्कादपि बाधित इत्यर्थः। ननु भवत्वेवं, तथापि मोहनार्थं नियुक्ता या माया सा तु स्वकार्यं मोहं कुर्यादेव “ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती”ति वाक्ये भगवत्प्रियतमस्य **ज्ञानिनोऽपि** तत्कृतमोहस्योक्तत्वादित्यत आहुः ज्ञानिनामित्यादि ‘ज्ञानिनामपी’ति वाक्यं ज्ञानिनामपि वाक्यं उत्तरपदलोपी समासः। तथा चानेन मार्कण्डेयवाक्येन ज्ञानिनामेव मायाकृतो मोह उक्तो, न तु भक्तानां अतः सा भक्तं न मोहयिष्यति। गीतायां ‘दैवी ह्येषे’ति वाक्ये भगवता तस्याः प्रपत्तिरणीयत्वकथनात्, उक्तविधभक्तस्य च प्रपन्नत्वे सन्देहाभावात्, अतो दूरापास्तं मोहनमित्यर्थः। न चेति कारणाभावे

एवं त्यागप्रकारं तत्कर्तव्यताप्रकारं च निरूप्योपसंहरन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति
इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।
सन्न्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

एवं सर्वे प्राञ्च आहुः। मम त्वन्यत् प्रतिभाति, उपक्रमे परित्यागो विचार्यत इति कथनात्, उक्तश्लोके च परित्यागो विधीयतामिति कथनाच्च तत्रैवोपसंहारप्रत्यभिज्ञानात्, इति कृष्णप्रसादेनेति श्लोकस्तु तत्रैव विशेषान्तरस्य बोधनाय। तथा हि। आचार्याणां पुरःस्फूर्तिकविचारेण देहदेशपरित्यागविषयकभगवदाज्ञाद्वयाकरणाभिमान जनितखेदे सति यदा लोकपरित्यागविषयिणी तृतीयाज्ञा जाता, तदा तद्वाक्यार्थविचारेऽनेन प्रकारेण कृते भगवान् विशेषतः प्रसन्नो भूत्वा तस्य सन्यासरूपतामाचार्याणां मनसि स्फोरितवान्, तदेतदस्मिन् श्लोके बोधयन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति। इति एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परित्यागो विचारिते सति यः कृष्णप्रसादः पूर्वस्मादतिरिक्तः तेन कृत्वा वल्लभेन भगवत्प्रियेण मया भक्तौ भक्तिमार्गे सन्यासवरणं उद्धववत् सन्यासाङ्गीकरणं विनिश्चितं विशेषतो निश्चितम्। अन्यथा एवमाज्ञाऽभावे तत्करणे पतितो भवेत्। भक्तिमार्गीयधर्माणां सन्यासधर्माणां चेतरेतरविरुद्धत्वात् भक्तिमार्गतश्च्युतो भवेदित्यर्थः। विशेषनिश्चयस्तु, “आहिताग्नेस्तु सन्यासो वैराग्यादुत्तरायुषि। यावज्जीवश्रुतेस्तत्र न विरोधः कथञ्चन। यजमानोऽग्निवचनाज्जरामर्याग्निहोमता। आत्मयागविधानाच्च द्रव्ययागविनिन्दनात्। श्रेयानित्यादिवचनादपुनर्भाववाक्यतः। न्यासो विधेयस्तत्रादौ प्रातर्हुत्वा यथा विधि। भार्यानुज्ञा तु नापेक्ष्या देवादारादिवाक्यतः। त्वं ब्रह्मेति च नापेक्ष्य पुत्राणां लौकिकत्वतः। आगूपचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानतः। आभ्युदैवप्रकारेण श्राद्धधान्यष्ट समाचरेत्। वर्गत्रयं प्रसिद्धं हि तत आत्मत्रयं मतम्। देहेन्द्रियप्राणदेवाः पञ्चमे देवता मताः। शिरःपाण्याद्यङ्गदेवा यन्तुदेवास्त्वगादिकाः। गोलाधिष्ठानदेवाश्च चक्षुराद्यास्ततः परम्। त्रिधाहङ्कृतिदेवाश्च रुद्रः सङ्कर्षणः शिवः। सप्तमे गुणदेवास्तु ब्रह्माद्या अष्टमे मताः। ततो दण्डत्रयं शिष्यं पवित्रं जलभाजनम्। पात्रं चेति समादाय तथा कार्पटिकाकृतिम्” इत्यादिषु श्लोकेषु वर्तते। सर्वो ग्रन्थ उत्सन्नः, पूर्णो न लभ्यत इत्यत एते श्लोका न विव्रियन्ते। अतस्तदुक्तप्रकारस्तत्तच्छास्त्रीयसन्यासपद्धति भ्योवगन्तव्यः। भगवता सन्यासस्य स्फोरणादेवाचार्यैस्त्रिदण्डसन्यास एव कृतः। भार्यादिभिराज्ञायाः अदाने स्वपर्णशालाज्वालनं प्रदर्श्य तैर्निर्गच्छत शीघ्रं निर्गच्छतेत्युक्ते करककौपीने गृहीत्वा निर्गताः। ततोऽग्निरपि शान्तः। ततो यथाविधि सन्यासं गृहीत्वा अरेलग्रामात् काश्यामागताः। मासमात्रं चानशनं कृतम्, दिनाष्टकं च मौनव्रतम्, तेन पूर्वाज्ञाद्वयस्थदेशदेहत्यागौ पाक्षिकदोषपरिहारेण कृतौ। तत आषाढशुक्लद्वितीयायां सिद्धिं गता इति प्राचां वाक्यादवगम्यते।

कर्मोपसंहतिगतश्रुतिसूत्रगं यद्यद्वोधितं भगवता निजभृत्यमुख्ये।

यच्चेतरत्तदनुसृत्य च वाक्यजातं सन्नयासनिर्णयमयं व्यवृणोत्तदीयः॥१॥

इति श्रीगोपीताम्बरात्मजश्रीपुरुषोत्तमविरचितं विवरणं सम्पूर्णम्।

१ नारायणेन्द्रतीर्थत इत्यधिकं श्रीवल्लभलालत उपलब्धे नूतनपुस्तके ।

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सन्यासनिर्णयः।

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः।

विचारितपरित्यागाः पश्चात्तापनिवृत्तये।
प्रसीदन्तु सदा मह्यमङ्गीकृतपितृत्वकाः॥१॥

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥

भक्तानां स्वहिताज्ञानेपि भगवांस्तेषां हितमेव सम्पादयतीति वस्तुस्थितिः। अतः साधनदशायां भक्तेन चिकीर्षितेपि परित्यागे तस्य पतनमाशङ्क्यय तत्र विधातं करोति। ततो भक्तस्य तत्सवरूपाज्ञानात् पश्चात् सेवानवसरे भावनादशायां तापो भवति, मया चिकीर्षितेपि महाफले परित्यागे भगवानविधातं करोति, अतो मयि न कृपेति मम फलमुखाधिकाराभावात् सर्वमेव व्यर्थमित्येवंरूपः। तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागः केन कर्तव्यः, कदा कर्तव्यः, किं वा तस्य स्वरूपमित्येवं विचार्यते, स्वमनस्येव युक्तिभिः परिशील्यते, तत्स्वरूपं पश्चात्तप्ताय बोध्यते, न तु कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते। साधनदशायां निषेधस्य फलदशायां च स्वकृत्यसाध्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः। भक्तिमार्गीयेण फलानुभवकाले कृतो देहेन्द्रियादिषु स्वीयत्वत्यागोधिकारिभेदेन पूर्वसिद्धतत्यागो वा परित्याग इति कर्तृकालस्वरूपाणां त्रयाणामुत्तरं भविष्यति, तज्ज्ञाने मम साधनदशापन्नत्वाद्भगवांस्तद्विधातं कृपयैव करोतीति स्वस्मिन् कृपाज्ञानेन पश्चात्तापनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः। युक्तिभिः स्वमार्गीयनिर्धारार्थं सामान्यतः सर्वनिर्णयमाहुः स इति। फलरूपभक्त्यनुभावार्थं च मार्गद्वये विशेषतः प्रोक्त इत्यर्थः यद्यपि कर्ममार्गेऽप्याश्रमधर्मत्वेनोक्तः, तथापि यावज्जीववाक्यस्यापि विद्यमानत्वात् विशेषतो नोक्त इत्यर्थः॥१॥

कर्तव्यताबोधकवाक्येन पाक्षिककर्तव्यत्वामाशङ्क्य तदपि निराकुर्वन्ति कर्मेति।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥

यावज्जीववाक्येन प्रत्यवायश्रवणात् पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न्यायेन न कर्तव्य इति भावः। वाक्यद्वयस्य रागारागभेदेन व्यवस्थायामपि कलौ तु “अग्निहोत्रं गवालम्भम्” इत्यादिवाक्यैः प्रत्यक्षत एव निषेधाद्देशादीनां दुष्टत्वाच्च न कर्तव्य एवेत्याहुः **सुतरामिति**। स्वस्य भक्तिमार्गविचारकत्वात्तन्मार्गीयकर्तव्य तामेव विचारे हेतुत्वेनाहुः अत इति।

तत्रापि साधनदशायां निषेधमाहुः **श्रवणादीति**।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात्॥३॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यति॥४॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः॥५॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥

एतेषां साधनरूपाणां प्रकर्षेण गेहीयानामनुकूलत्वेपि कदाचित् स्वासक्तिसम्पादनेन प्रतिबन्धकानामसंसर्गेण सिद्ध्यर्थं कर्तव्य इति चेत्? स परित्यागोस्माभिर्नेष्यते, इष्टफलासाधकत्वादित्यर्थः। प्रतिकूले तु त्याग उचित एवेति भावः। तद्विशदयन्ति **सहायेति**। श्रवणे सहायभूतो यस्तादृशानां सङ्गस्तत्साध्यत्वात् **श्रवणादीनामिति** शेषः। एकाकिनस्तदसम्भवात् ग्रन्थावलोकनादिना स्वत एव शक्तितात्पर्यनिर्धारसम्भवे दोषान्तरमाहुः **साधनानामिति**। पुस्तकादीनामित्यर्थः। तावत्स्थापनेपि परित्यागो न सिद्ध इति भावः। अत एव “ग्रन्थान् नैवाभ्यसेत् बहून्” इति वाक्यम्। यत्किञ्चिद्ग्रन्थाभ्यासस्तु पुस्तकं विनापि भवतीति बहूनित्युक्तम्। एवं स्वरूपासाधकं दोषद्वयमुक्तमित्यनयोः समुच्चयेनैकरूपत्वबोधनार्थं चकारः। फलासाधकं दोषद्वयमाहुः **अभिमानादिति**। भूयोभ्यासेन प्रतिभोत्पत्तौ पुस्तकादिरूपसाधनत्यागेपि अन्तःकरणाशुद्ध्या अहं ज्ञानीत्यभिमानो भवेत्। ततो मुख्यफलासिद्धिः। तीर्थादिभिरन्तःकरणशुद्ध्यावभिमानाभावे दोषान्तरमाहुः **नियोगादिति**। नियोगो विधिस्तस्माद्धेतोरित्यर्थः। मुख्यफलस्य विध्यस्पृष्टत्वाद्विहितत्वेन कृतेन त्यागेन न तत्सिद्धिरिति भावः। एवं फलासाधकं दोषद्वयमुक्तमिति चकारः। मुख्यदोषमाहुः **तद्धर्मैरिति**। तस्य भगवतो भजनकर्मणो धर्मैस्तनुवित्तजसेवारूपैर्विरोधात्। त्यागे सति तादृशसेवाऽसम्भवादित्यर्थः। तथा च फलरूपाया मानस्याः पूर्वोक्तदोषैरसिद्धिः। तनुवित्तजायाश्च त्याग इत्युभयभ्रंश इति भावः। नन्वेवं सति सेवाश्रमणादिसाधकस्थापनेन भार्यादेरनुकूलत्वेपि स्वासक्तिसम्पादन रूपपाक्षिकदोषसद्भावेन बाधकत्वात् पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न्यायेन त्यागः कर्तव्य इत्याशङ्क्य **निषेधन्ति गृहादेरिति**। भार्यादेरित्यर्थः। **साधनार्थमिति**। अन्यत्रानासक्त्या सेवाश्रवणादिसम्पादनार्थम् इत्यर्थः। **तादृशैरिति**। रागिभिः स्वस्मिन्नासक्तिसम्पादकैरित्यर्थः। **नान्यथेति**। अतिरिक्तैरित्यर्थः। तादृशैरुच्छृङ्खलैः

सेवाश्रवणादिकमपि न सिध्येदिति भावः। ननु ते कीदृशा अपि भवन्तु, स्वस्य किं दूषणमित्यत आहुः स्वयं चेति। ते विषयाक्रान्तास्तत्सङ्गात् स्वयं च तदीयैर्विषयै रूपादिभिराक्रान्तो लुब्धः सन् पाखण्डी वेदविरुद्धविषयभोगकर्ता भवेदित्यर्थः। ननु दृढचित्तः कथमेवं भवेदित्यत आहुः कालत इति। कलिकालस्यादाढ्यसम्पादकत्वादिति भावः। साधनदशायां कालस्य प्रबलत्वान्निश्चितमेव स्यादिति पक्षान्तरनिरासकस्तुशब्दः। भार्यादिसहभावे विषयाक्रमणेपि पाखण्डित्वं तु न भवेदिति भावः। ननु निषिद्धविषयाक्रमणे भवतु नाम वेदमार्गविरोधः; स्वमार्गीयफलस्य तु विध्यस्पृष्टत्वात् तत्र किं बाधकमित्याशङ्क्य स्वमार्गविरोधमप्याहुः विषयेति। स्वकीयैरनिषिद्धैर्विषयैरन्तःकरणमेवाक्रान्तं भवति। तदपि देहेन्द्रियप्राणानामनाक्रान्तत्वात् तैः सेवाश्रवणादिकरणे निवर्तेत। तदा नित्यभगवदावेशो भवेत्। परकीयैर्निषिद्धैस्तु दुर्लभत्वेन निरन्तरभावनया दृढैर्दुर्दृष्टजनकैः प्रातिलोम्येन देहपर्यन्तमाक्रान्तं भवति। तथा च देहपदेनेन्द्रियप्राणान्तःकरणानामाक्रमणं कैमुत्येन सूचितम्। तादृशानां सर्वस्यापि सङ्घातस्य विषयाक्रान्तत्वेन सेवाद्यसम्भवात् तैर्विषयान्तीति व्युत्पत्त्या विषयैर्मृत्युरूपं दुःखमेव भवेत्, न तु दुःखहर्तुरावेशेनामृतरूपभगवदानन्द इति भावः। सर्वदेति। एवमपि गुणगानादिना तत्काले कदाचिद्भगवदावेशो भवेदपि, न तु सर्वदा। तादृशस्तु कदाचित्कत्वेनागन्तुकत्वादसमर्थ इति भावः। उपसंहरन्ति अतोत्रेति। अतो भगवदनावेशादेव हेतोरत्र मार्गे साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं परित्यागो न भगवदानन्दप्रापकः, किन्तु मृत्युरूपदुःखप्रापक इत्यर्थः॥३-६॥

द्वितीयदलानुभवाय फलानुभवकाले त्यागाभ्यनुज्ञामाहुः विरहेति

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते॥८॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्यासेन विशेषितात्।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥

तादृशाः स्तयलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि॥११॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा॥

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि॥१२॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥

दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा॥१३ १/२॥

पूर्वसंयोगव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः। सुप्तप्रबुद्धन्यायेन। तदनन्तरं जातस्तु संयोगो विरहाभिन्न एव, तदर्थं परितस्त्यागो देहेन्द्रियादीनामप्यननुसन्धानरूपः। प्रकर्षेण गुरूपदेशभार्याभ्यनुज्ञादिव्यतिरेकेणैव फलसाधकत्वेन शस्यते। तर्हि वेषोपि तथा न स्यादित्यतस्तत्प्रयोजनमाहुः स्वीयेति। बहिस्तथावेषाभावे स्वीयानां भार्यादीनामन्तःकरणबन्धो वासनारूप एतस्मिंस्तिष्ठेदेव, वेषे तु कृते अयमस्मदुपयोगानर्ह इति ज्ञानेन स्वीयानां वासना एतस्मान्निवर्ते तेति तदर्थं स त्रिदण्डिवेषोत्र मार्गे शस्यते इति पूर्वणान्वयः। **न चान्यथेति**। फलार्थं चकारात् साधनसिद्ध्यर्थं च नेत्यर्थः। ननु गुरूपदेशाभावे “यस्त्विच्छया कृतः पुम्भि”रिति वाक्याद्धर्माभासत्वेना धर्मवत्वमेतस्य स्यादित्यत आहुः कौण्डिन्य इति। कुण्डिने भवा कौण्डिनी, आद्यमहिषी। तत्प्रधानत्वात् तस्य एव सर्वत्राविष्टत्वात् सर्वा एव महिष्यः **कौण्डिन्यः**। तथा च कौण्डिन्यो गोपिकाश्चेति वाचिककायिकतिरोधानद्वयजनितद्विविधविरहानुभव विशिष्टं गुरुद्वयमित्यर्थः। तथा च तयोर्नियामकत्वान्न स्वेच्छाकृतिरूपो दोषः। ननु तत्कृतोपदेशासम्भवात् कथं गुरुत्वमत आहुः **साधनं** चेति। तत् एतद्वये निरन्तरभावनया सिद्धं स्थायिभावरतिरूपं क्रमेण तिरोधानद्वये वचनैः स्वरूपेणोत्कटं सत् साधनम्। चकारात् फलमपि तत्र सिद्धो विरहानुभव एव। तथा च साक्षादुपदेशाभावेपि साधनफलबोधकत्वात् गुरुत्वमिति **भावः**। नन्वेवं साधनसाध्यत्वे ‘नायमात्मे’ति वाक्यविरोध इत्यत आहुः **भाव** इति। भावनया चर्वणया सिद्धं स्थायिभावरतिरूपं विरहानु भवस्य साधनं वरणादन्यत्प्रवचनादिरूपं नेष्यते, किन्त्वदं सर्वं वरणान्तःपात्येवेति न पूर्वोक्तवाक्यविरोधः। ननु विरहे विकलत्वास्वास्थ्याभ्यां दुःखानुमानात् कथं फलत्वम्? आनन्दस्यैव फलत्वादित्यत आहुः **विकलत्वमिति**। एतद्वयमन्तःस्थितस्य विरहात्मकस्यानन्दरूपस्य भगवत एव प्रकृतिः स्वभावो धर्म इति यावत्। न त्वानन्दतिरोभावेन दुःखरूपायाः प्रकृतेर्धर्म इत्यर्थः। तादृशे दुःखधर्मत्वं नोचितमिति हिशब्दः। एवं सर्वदा द्वितीयदलानुभवे पूर्वदलाननुभवात् पूर्णरसानुभवो न भवेदतः पूर्वदलानुभवमाहुः **ज्ञानमिति**। **ज्ञानं** “तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम्” इति अत्रोक्तं प्रेमबन्धनदर्शनम्, **गुणा** ऐश्वर्यादयश्च क्रमेण तस्यैवं वर्तमानस्य गुरुद्वयस्य बाधकाः, पूर्वानुभवं बाधित्वा पुनः संयोगरसानुभावका इत्यर्थः। तत्र प्रकारमाहुः **सत्येति**। **ज्ञानात्** तत्पूर्वोक्तात् सत्यस्याक्षरब्रह्मणः श्रीवत्सस्य लक्ष्म्याश्च लोके विशाले स्थाने वक्षसि स्थितिः “आश्लिष्य बाहुना राजन्” नित्यत्रोक्ता भवति। नन्वेवं प्रकारं ज्ञानं तु पूर्वमप्यासीदतः कथं पूर्वं तिरोभावसम्पादनमत आहुः **सन्न्यासेनेति**। सम्यक् न्यासेन विरहे देहेन्द्रियाद्यननुसन्धानेन विशेषितं प्रेमबन्धनज्ञानं जातमित्यर्थः। नित्यज्ञानवत्त्वेपि रसमार्गस्थस्य भगवतो रसमर्यादयैव ज्ञानोद्बोध इति सिद्धान्तात्। नन्वेतादृशज्ञानस्य सत्यलोकस्थितिरूपस्य फलस्य चाद्यमहिष्यामेवोक्तत्वात् कथं सर्वासां गुरुत्वमित्यत्व आहुः **भावेनेति**। पूर्वोक्तं भावसाधदभावनारूपं साधनं तथा आद्यमहिषीसदृशं यत्र भक्तेषु भवेत् **फलं चकारात्** तत्साधनं भावश्च तथा पूर्वसदृशं विरहानुभवरूपं

यत्र भक्तेषु भवेत् तादृशा भक्ताः महिषीरूपाः सत्यलोके आदिपदेन “तामुत्थाप्य चतुर्भुज” इति अत्रोक्तोत्थापनकेशसमूहनवक्रमार्जनादिना भुजादिषु च तिष्ठन्त्येव, तावत्सिद्धौ तावदपि युक्तमेवेत्येवकारः। तत्रै ‘वाथान्यासामपीत्य’ इति देशादत्र संशयो न कार्य इत्याहुः न संशय इति। ननु पूर्वमपि संयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं विरहानन्तरं जातस्यैव फलत्वमत आहुः बहिरिति। स्वस्य भक्तस्यात्मा भगवान् वाचिकतिरोधानलीलया बहिः प्रकटो भक्तस्वरूपाद्बहिर्भूतो भिन्नश्चेत् सन् पुनर्भक्तस्वरूपे प्रविशेत्, सत्यलोकादौ तत्स्थापनेन तत्प्रत्यङ्गेषु संयुज्य स्थितो भवेत्, तदैव सकलो देहेन्द्रियादिषु वासनारूप आध्यात्मिकोपि बन्धो नाशमेति, नान्यथा तिरोभावातिरिक्तप्रकारेण न भवतीत्यर्थः। विरहेतितापेन देहेन्द्रियाननुसन्धाने सर्वांशेन तद्वासनानिवृत्तिः, तदनन्तरं संयोगेऽप्याध्यात्मिकाविद्याया निवृत्तत्वाद्देहेन्द्रियादिकमात्मा च भगवदीयत्वेनैव प्रियो भवति, भगवानपि भगवत्वेनैवेति मुख्यो निरोधो सिद्धो भवतीति पूर्वसंयोगेऽप्याध्यात्मिकबन्धस्य विद्यमानत्वान्न तस्य फलत्वम्, किन्त्वस्यैव निरोधस्यैव फलत्वादिति भावः। तत्र दृष्टान्तः वह्निवदिति। यथा वह्निर्मथनेन काष्ठाद्बहिर्भूतः सन् पुनः काष्ठे यदा प्रविशति तदा काष्ठांशं निवर्तयति तथेत्यर्थः। एवं वाचिकतिरोभावे वचसोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, ज्ञानेन संयोगानुभवः पुनरेवमिति। पौर्वापर्येण दलद्वयानुभव एव, नान्यावस्थेति प्रथमगुरौ साधनं फलं चाभिहितम्। द्वितीयगुरौ वाचिकतिरोभावे स्वरूपेणोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, गुणैः संयोगानुभवः, संयोगेऽपि न विरहबाधः, विरहेऽपि न संयोगबाध इति सार्वदिकशबलितरसानुभव इति। ततोऽपि विशिष्टं साधनं फलं चेत्यभिप्रेत्य पुनः पूर्वदलानुभवे साधनं दलस्वरूपं चाहुः गुणास्त्विति। पूर्वं गुरौ ज्ञानं सर्वांशेन विरहं बाधित्वा संयोगानुभावकमुक्तम्, न तथा गुणा अत्रेति तुशब्दः। किन्त्वेकांशेन विरहं बाधित्वा संयोगानुभावका इति। सङ्गराहित्याद्देहेन्द्रियादिभिर्यः सङ्गस्तद्राहित्यात्तत्तिरोभावाद्धेतोः स्वयमेव देहेन्द्रियादिरूपा भूत्वा फलानुभवाय जीवनसम्पादनार्थं साधनरूपा भवन्ति। न तु सर्वथा विरहबाधिका इत्यर्थः। विरहेणात्युपमर्दिना देहेन्द्रियादितिरोभावे भगवद्गुणा एव तद्रूपा भूत्वा तत्र स्थिता इति चतुर्थाध्याये निरूपितम्। अत एव पञ्चमाध्यायेऽपि गुणरूपा एव ता इति निरूपितम्। तथा च सङ्गमेऽपि विरहे इवात्युत्कटदिदृक्षासत्त्वेन न सर्वथा विरहबाधः। अत एव सङ्गमेऽपि ‘दिदृक्षितदृशोभ्यगमन्’ इति वाक्यम्। विरहेऽप्यान्तरमणान्न सर्वथा संयोगबाधः। अत एव ‘वर्णयन्त्योभिरेमिरे’ ‘रेमिरेहस्सु तच्चिताः’। “विशोका अहनी निन्युर्” इत्यादिवाक्यानि। एवं शबलितरसानुभवः सर्वदा न त्वेकतरबाधः। अत्र कदाचिद्दिदृक्षापूर्तिप्रलापादिभावा अपि जायन्ते। उद्धवोपदेशानन्तरभावे तु सर्वदैव तथेति। तस्यात्यन्तिकत्वम्। ननु विरहभावस्य प्रबलत्वादुपैर्बाधासम्भवेऽपि भगवान् स्वसङ्गेन तद्बाधकः स्यादित्याशङ्क्ययाहुः भगवानिति। भगवानुभय फलरूप इति स्वरूपतो नैकतर बाधक इष्यते, किन्तु वाक्यं स्वास्थ्यजनकं विरहभावनिवर्तकं “मया परोक्षं भजता तिरोहितम्” इत्यादिरूपं वदति। तादृशं वाक्यं तु एताभिर्न कर्तव्यं न मन्तव्यं ‘स्वागतं व’ इत्यादि

वाक्यवत्। एतासां स्वरूपमात्रनिष्ठत्वाद्वाक्यैः पूर्वभावोपमर्दो न भवतीत्यर्थः। ननु दलयोरुभयोर्विरुद्धत्वादेकदैवोभयदलरूपो भगवान्मर्यादया विरुध्यत इत्यत आहुः दयालुरिति। भगवानेतासु दयालुरतो दयया शबलितपूर्णरसदित्सया मर्यादामप्यतिक्रम्य लीलां करोति। अतो न विरुध्यते, विरोधविषयो न भवतीत्यर्थः। ननु विरहभावात् पूर्वम'प्यात्मारामोप्यरीरम'दिति प्रकारकभावस्य जातत्वात्तदैव देहेन्द्रियादितिरोभावरूपः परित्यागः कुतो न सम्पन्न इत्यत आहुः दुर्लभ इति। अयं पूर्वोक्तः परित्यागो दुर्लभः, दुःखेन वियोगात्मकेन लभो लाभो यस्य तादृशः। तत्र हेतुः। प्रेम्णा भावनासिद्धेन रत्याख्येन सिध्यति, नान्यथा, प्रकारान्तरेण न सिध्यति। तादृशप्रेमौत्कट्यं तु विरहात्मकदुःखे एव भवति। अतो दुर्लभत्वान्न वियोगात् पूर्व तत्सिद्धिरित्यर्थः॥७-१३ १/२॥

ज्ञानमार्गीयं निरूपयन्ति ज्ञानमार्गे त्विति।

ज्ञानमार्गे तु सन्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥

अतः कलौ स सन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्न्यसेत्॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः॥१६ १/२॥

भक्तिमार्गीयोस्माभिर्विचारितः, ज्ञानमार्गीयस्तु प्रमाणगम्यत्वात् तैर्विचारित एव। अस्माभिस्त्वनूद्यते, परप्रीतिविभेदज्ञापनाय तुशब्दः। विविदिषाविद्वद्भेदेन द्विविधोपि प्रमाणैर्विचारितः। साधनमपि विचारितमित्याहुः ज्ञानार्थमिति। भक्तिमार्गीयेण त्यागेन विरहानु भवार्थं साधनत्वेन भावः पूर्वमुक्तः। ज्ञानमार्गीयेण “यदहरेव विरजे”दिति प्रकारेण त्यागेन आत्मापरोक्षरूपज्ञानार्थं साधनत्वेन उत्तरं मुख्यमङ्गं श्रवणं, तदपि विचारित “मात्मा वारे द्रष्टव्य” इति वाक्यादित्यर्थः। पूर्वस्मादेतस्य वैलक्षण्यमाहुः सिद्धिरिति। परमत्र जन्मशतैरनेकजन्मभिः सिद्धिर्भवति, तत्र तु न विलम्बः, “बहूनां जन्मनामन्ते” इति वाक्यादिति भावः। नन्वायुर्भागप्रकारेण कृते कर्ममार्गीयेपि सन्यासे तुरीयाश्रमे ज्ञानमेवाभिहितम्। अतो विशेषाभावात् कर्ममार्गीयोपि कुतो न कर्तव्य इत्याशङ्क्य मार्गद्वयीयज्ञानयोर्भेदार्थं कर्ममार्गीयज्ञानस्वरूपमाहुः ज्ञानं चेति। ज्ञानमार्गे पञ्चाग्निप्रकारेणाधिकारिदेहस्य सिद्धत्वाज्ज्ञानमस्मिञ्जन्मनि साधनानपेक्षम्, श्रवणरूपं तु साधनं फलनान्तरीयकत्वात् फलाङ्गमेव, अत एवोत्तराङ्गमित्युक्तम्। कर्ममार्गीयं तु ज्ञानमस्मिन्नपि जन्मनि साधनापेक्षम्, गार्हस्थ्ये यज्ञादयः कर्तव्या इति श्रवणाद्धेतोर्मतं सम्मतमित्यर्थः। चस्त्वर्थे, पूर्वज्ञानव्यवच्छेदाय। अतः साधनाधीनत्वात् साधनानां कलौ देशादिदोषेणासिद्धत्वाच्चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानानुदयान्मया वृथैव परित्यागः कृत इत्याकारकपश्चात्तापाय स कर्ममार्गीयः सन्यासो भवेत्। नान्यथेति।

ज्ञानभक्तिप्रकारकस्तु साधनानपेक्षत्वात्तथा न भवेदित्यर्थः। न केवलं पश्चात्तापमात्रं किन्तु दोषसम्बन्धोऽपि भवेदित्याहुः **पाषण्डित्वमिति**। चित्तचाञ्चल्याद्वेदविरुद्धकार्यकर्तृत्वमपि भवेत्। कदाचिद्दोषाभावेऽपि पाक्षिकदोषसम्भावनाया विद्यमानत्वात् फलसिद्ध्यभावाच्च न कर्तव्य इति चकारः। पूर्वोक्तपश्चात्तापसमुच्चयार्थं मपिशब्दः। तस्माद्धेतोर्ज्ञाने साधनापेक्षज्ञानसिद्ध्यर्थं न सन्न्यसेत्, सन्न्यासं न कुर्यादित्यर्थः। ननु कालदोषा इव कर्माणि प्रमाणसिद्धमतः कालेन कथं कर्मबाध इत्यत आहुः सुतरामिति। कलिदोषाणां **सुतरां** कर्मपेक्षयाऽपि प्रबलत्वात्। काले कर्मविधाने कर्मणः कालाधीनत्वात् कालस्य कर्मपेक्षया प्रबलत्वम्। ‘रश्म्यनुसारी’ इति आरभ्य “योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैत” इति सूत्रेण कर्मणि कालबाधस्य व्यवस्थापितत्वादिति स्थितिरित्युक्तम्॥१४-१६ १/२॥

ननु तत्र तु ज्ञान एव कालानपेक्षोक्ता। अतः कर्मणीव भक्तावपि कालबाधः प्राप्त इत्याशङ्क्यय तत्समाधानमाहुः **भक्तिमार्गेऽपीति**।

भक्तिमार्गेऽपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे॥

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥

किं कार्यं, भक्तिमार्गेणैव स्थेयं, तं मार्गं परित्यज्य ज्ञानमार्गो वा आश्रणीय इत्याशङ्कायां समाधानमुच्यते। व्यासस्य ज्ञानावतारत्वेन ज्ञानरूपत्वात्तन्मार्गसमाधानं व्यासैरुक्तम्। अस्माकमास्यत्वेन भक्तिरूपत्वाद्भक्तिमार्गसमाधानमस्माभिरुच्यते इत्यर्थः। तत्र ज्ञानमार्गे फलदशायामेव बाधाभाव उक्तः। अत्र तु साधनदशायां फलदशायां च तथेति ततोऽपि वैशिष्ट्यबोधनार्थं पूर्वं साधनदशायां बाधाभावमाहुः **अत्रेति**। **आरम्भे** साधनदशायामित्यर्थः। बाधो हि स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति। तत्र प्रथमं स्वरूपतस्तदभावमाहुः न नाशः स्यादिति। भगवतः सर्वतः प्रबलस्य रक्षकत्वान्न भवत्येवेति स्यादिति विधिरुक्तः। फलतस्तदभावमाहुः दृष्टान्तस्येति। कालदृष्टो यः अन्तः फलं तस्याभावात्। स्वदृष्टमेव हि फलं कालेन नाशयते, इदं तु फलं कालातीतम्, अतः कथं फलनाशद्वारा श्रवणादिसाधननाशः कालेन कर्तुं शक्येतेत्यर्थः। साधनतस्तदभावमाहुः स्वास्थ्येति। कालकृतनाशस्य विवक्षितत्वात् स्वं कालस्तत्स्थत्वं श्रवणादीनां नाश इति यावत्। सर्वमेव नष्टं सत् कालस्थं

भवति। तादृशनाशस्य हेतुर्विषयादिः। विषयोपाधिकमेव श्रवणादिकं नाशप्रतियोगि भवति। न तु भगवदीयम्, स्वास्थ्यस्य नाशस्य हेतोर्विषयादेः परित्यागात् स्थितस्य च भगवति समर्पणादित्यर्थः। भगवदीयो विषयस्तु स्थितोपि कालेन नाशयितुमशक्य इति साधनतोपि नाशाभाव उक्तः। अतः प्रकारत्रयस्याप्यभावादस्य साधनभूतश्रवणादेः कालकृतो बाधः केन प्रकारेण सम्भवेदित्यर्थः। फलस्य तु बाधः सम्भावयितुमपि न शक्य इति तत्र कैमुत्यमाहुः **हरिरत्रेति**। दुःखहर्तृत्वेन सर्वात्मना विरहं बाधितुमुचितोपि तद्भावस्यापि भगवद्रूपत्वेन प्रबलत्वात्तद्बाधां कर्तुं न शक्नोतीत्युक्तम्। अपरे कालादयः कुतो हेतोः करिष्यन्ति, एकांशेनापि बाधहेतुभूतयोर्ज्ञानगुणयोरपि कालाद्यतीतत्वात् कुतो हेतोरित्युक्तम्। भगवान् संयोगं पुनरनुभावयितुं तं भावमेकांशेन ज्ञानगुणाभ्यां बाधयति, सर्वांशेन तु बाधनेऽशक्तः। कालादयस्तु बाधहेतोः संयोगरूपफलस्य ज्ञानगुणरूपस्य साधनस्य च स्वागम्यत्वात् कुतो हेतोरेकांशेनापि बाधितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः। एवं भगवतोऽशक्तौ स्वरूपमेव हेतुरिति दृष्टान्तेन बोधयन्ति **अन्यथेति**। भगवतो बाधकत्वे मातरो न पुपुषुरित्यपि स्यात्। तथा च यथा मातृस्वरूपस्यैव तथात्वान्मातरो बालान् स्तनैर्न पुपुषुरित्यसम्भावितम्, तथा भगवत्स्वरूपस्यैव तथात्वाद्भगवता सर्वांशेन भावबाधनमप्यसम्भावितमिति बिम्बप्रतिबिम्बभावसिद्ध्या दृष्टान्तालङ्कारसिद्धिः। ननु “तर्हि भवतीनां वियोगो मे न हि” इत्यादीनां कथं विरहाभावबोधनमित्यत आहुः **ज्ञानिनामपीति**। ज्ञानिनां ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामपि सम्बन्धिना तादृशवाक्येन भक्तं ज्ञानांशरहितं शुद्धभक्तं न मोहयिष्यति, पूर्वसिद्धविरहानुभवरहितं न करिष्यति। ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामेव तादृशैर्वाक्यैर्विरहबाधो भवति। एतासां तैर्वाक्यैः प्रत्युत स भाव उत्कटो जातः। एतच्च विवृतं तत्रैव। ननु ज्ञानिना इव भक्तमपि कुतो न मोहयति, अशक्तावपि तुल्यबलत्वादधिकप्रयासेन तत्सम्भवादित्याशङ्क्य तत्र प्रयोजनाभावं हेतुत्वेनाहुः **आत्मप्रद इति**। ज्ञानमिश्राणां विरहे विप्रयोगरसात्मकस्य स्वरूपस्य न प्राकट्यम्, अत आत्मनः स्वरूपभूतस्यानन्दस्य दानार्थं पूर्वभावं बाधयति। सुखदातृत्वेनैव च प्रियः, अतो दुःखाबाधे प्रियोपि न स्याद्, अतः पूर्वं बाधयतीत्यात्मदाने प्रीतिरूपप्रयोजनद्वयं भगवन्निष्ठं भक्तनिष्ठं च निरूपितम्। एतासां तु विप्रयोगरसात्मक स्वरूपानुभवाद्विरहेपि भगवान् आत्मप्रदः। निरुपाधिकप्रीतिविषयत्वात्तादृशदुःखेपि प्रियः। अतः प्रयोजनद्वयस्य तदापि सिद्धत्वात् किमर्थं कस्मै प्रयोजनाय मोहयिष्यतीत्यर्थः। तत्र “नीलाम्बुदश्यामो हृदयादपसरत्वि” इत्यादिनो उक्तोपि भावो जायते इति चकारः। परं तस्य व्यभिचारिभावत्वान्न स्थायिभावरूपप्रीतेर्हानिः। तादृशस्वरूपदानेपि प्रीतिसूचनायापिशब्दः। एवं गुरुद्वये सिद्धं सर्वं निरूपितम्। तत्राधुनिकस्य यावत्कर्तव्यं तदाहुः **तस्मादिति**। यतो भक्तिमार्गीयस्य न बाधस्तस्माद्धेतोरुक्तेन गुरुद्वये सिद्धेन प्रकारेण परित्यागो विधीयतामित्यभ्यनुज्ञा। गुरौ दलद्वयमुक्तम्। तत्रैकदलार्थं तत्सम्पादकः परित्याग आधुनिकेनापि कर्तव्यः। अपरस्य तु दलस्य तत्र सिद्धस्य नाधिकार इति तदाकाङ्क्षायां बाधकमाहुः अन्यथेति। परित्यागादन्यप्रकारकरणे इत्यर्थः। अपरदलेच्छायामपि स्वस्मिन् सिद्धादर्थात् फलाद्भश्यते, ततोप्यधः पततीत्यर्थः। अयोग्यमिच्छन् पुरुषः

पतत्येवेत्यवधारणात्। एतस्य फलावान्तरविचारस्य प्रमाणागम्यत्वात् स्वस्यैवाऽस्यत्वेन भक्तिरूपस्य मतेः सम्मतिमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति।

उपसंहरन्ति इति कृष्ण इति।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।

सन्न्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

कृष्णस्य प्रसादेन करणेन तस्यैव वल्लभेन कर्त्रा विनिश्चितं, भक्तौ फलरूपभक्तिसिद्ध्यर्थम्। सन्न्यासो व्रियते स्वीक्रियते अनेन करणेन तादृशो विचारः सन्न्यासवरणम्। इति समाप्तमित्यर्थः। “अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणे” इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यैव तात्पर्यविषयत्वेनोपक्रान्तत्वात्तेनैवोपसंहारः। स्वनिश्चितमिदमेव। ज्ञानमार्गीयं तु प्रमाणैर्निश्चितमेव, स्वयमनूदितं परमिति भावः। अन्यथाकरणे बाधकमाहुः अन्यथेति। स्वयं निश्चितात् फलमार्गीयादनूदिताच्च ज्ञानमार्गीयादन्यथा साधनमार्गप्रकारेण कर्ममार्गप्रकारेण वा करणे तस्मात् साधनात् पतितो भवेत्, विरुद्धाचरणात् स्वयमेव पतितो भवेत्। ननु भगवांस्तत्पातक इति क्लेशे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनायुक्तत्वात् कर्मपदमित्यनेन वृत्रवाक्यविवरणे प्रभूक्ता भक्तिमार्गमर्यादा सूचिता। स्वस्यैतन्निश्चयस्य सिद्धत्वेपि करणकर्तृकथनेनैवंविधनिश्चये कृष्णप्रसाद एव साधनम्, तत्प्रियत्वमेव च स्वरूपयोग्यतासम्पादकमित्यनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं सूचितम्। नन्वेवं सति स्वस्य दासत्वमायाति, अत एव ग्रन्थान्तरेपि “इति श्रीकृष्णदासस्ये” इति उक्तम्, अन्यत्र च ‘वैश्वानराद्वाक्पतेर्’ इत्यनेनाधिदैविकास्यत्वं स्वयमेवोक्तम्, अतः कथं विरोधपरिहार इति चेदुच्यते। यथा भगवतो “जीवय मृतमिव दासम्” इत्यादिवाक्यैस्तथात्वमप्युच्यते, तत्र रसात्मकत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वाद्रसस्य च तावद्विधत्वाद्धर्मिग्राहकमानेनोभय रूपत्वम्, न तु कस्यचिदारोपितत्वमिति निर्णयः, तथा प्रकृतेपि रसात्मकत्वेन दास्यरसानुभवार्थमाविर्भावात्तद्रसस्यैव तथाविधत्वादुभयरूपत्वम्, न तु किञ्चिदारोपितम्, अतो यथार्थवादित्वेनाप्तत्वात्तद्वाक्यमखिलप्रमाणमूर्धन्यमिति तदनुग्रहभाजनैरवगन्तव्यम्। एवमेवाग्निकुमारचरणेष्वपि भगवत्त्वं “यावन्ती पदपद्मानि” इत्यादिषूक्तं तद्दासीत्वमित्यादिकं यद्यद्रसानुभवे यद्यदुक्तं तत्तत्सर्वमनारोपितमेवेति ज्ञेयम्। एतेन विरुद्धधर्माश्रयत्वकथनेन भक्तेभ्यः स्वस्य भगवत्त्वमेव सूचितं भवति, मानुषभावस्वीकारादनधिकारिणां परं न तथा प्रतीतिरिति विभावनीयम्। पूर्वप्रणिपातादिकरणेपि ‘न पारयेहम्’ इत्यादिवाक्यैः भक्तप्रकारकं दास्यं न सम्पन्नम्, अत एवमाविर्भूय ग्रन्थद्वयोक्तप्रकारेण स्वामिनीदास्यरसत्वमनुभूतवानिति भावः॥२२॥ स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः। वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात्॥१॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता सन्न्यासनिर्णयस्य विवृत्तिः
सम्पूर्णा॥

सन्यासनिर्णयः।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतः।

निबन्धे “त्रिदण्डं परिगृहीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्” इत्यादिवचनैरुपेत्यात्र त्रिदण्डविषयकेष्टसाधनताभ्रमाद्रभसवशेन पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं गृह्णन् पश्चात्तापमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गसन्यासस्य विचारमारभन्ते।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः॥१॥

कलिकालजन्यदोषाक्रान्तत्वात् कर्ममार्गीयस्य विलम्बेन फलजनकत्वात् ज्ञानमार्गीयस्य च परित्यागस्य सदोषत्वमुद्भाव्य पुष्टिमार्गीयपरित्यागस्य किं प्रयोजनं, कोत्र गुरुः, किं वा साधनं, का च परित्यागिनो व्यवस्थितिरित्यादिविचारः क्रियते इत्यर्थः। तथा चैवं विचारेण परित्यागे निर्णीते सत्यन्यत्र प्रवृत्त्यनुदयात् पश्चात्तापानुदय इति भावः। स इति। यस्य विचारः क्रियते स परित्यागो भक्तौ भक्तिमार्गे ज्ञाने ज्ञानमार्गे च कर्तव्यत्वेन प्रोक्त इत्यर्थः। विशेषत इति। मार्गद्वितयोक्तावपि ज्ञानमार्गे विशेषत उक्त इत्यर्थः।

तथा च वेदस्मृतिपुराणेतिहासेषु सर्वत्र प्रसिद्धत्वाद्विशेषेणोक्तः, भक्तिमार्गे तु भगवदनुग्रहैकलभ्यभजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवार्थं भगवत्कृतवरणरूपस्तद्रसिकेष्वेव प्रसिद्धत्वाद्विशेषेण नोक्त इति भावः॥१॥

ननु मार्गद्वितयप्रोक्त एव विचार्यते, न तु कर्ममार्गीयः, तथा च तस्याविचारे को हेतुरित्यत आहुः।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा॥२॥

वस्तुतो ज्ञानमार्गेपि न कर्तव्य एव, अनन्तजन्मभिः सिद्धिसम्भवात्, परन्तु ज्ञानमार्गे दैवात् ज्ञानसिद्धौ पाक्षिक्यपि सिद्धिः, अतः कर्तव्योपि, कर्ममार्गे तु न कर्तव्य एवेत्याशयेन सुतरामित्युक्तमिति बोध्यम्। तत्र हेतुः कलिकालत इति। कर्ममार्गस्य देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रादिसापेक्षत्वात् कलौ तु देशादीनामशुद्धत्वात् कर्ममार्गीययावतत्पदार्थसिद्धिः कालत्रयेपि बाधितेत्याशयः। तथा च कलिकालजन्यदोषाक्रान्तत्वेनाकर्तव्यत्वात् द्विचारोपि न क्रियते इति भावः। अत इति। सत्त्वरासन्दिग्धफलजनको निर्दोषोऽवश्यकर्तव्यश्च, अतो हेतोः ज्ञानमार्गीयपरित्यागविचारात् प्रथमं भक्तिमार्गीयो विचार्यते इत्यर्थः॥२॥

तत्र प्रथमं परित्यागप्रयोजनं विचारयन्तः प्रयोजनानन्तरमाशङ्क्य दूषयन्ति॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात्॥३॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥४॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः॥५॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥६॥

प्रेमजनकश्रवणादीनां गार्हस्थ्ये व्यासङ्गान्तरेण सम्यगसिद्धेः, प्रकर्षेण सिद्ध्यर्थं परित्यागः कर्तव्य इति पक्षो नेष्ट इत्यर्थः। अनिष्टत्वे हेतुमाहुः। श्रवणे सहायाः श्रवणकारयितारः तत्सङ्गसाध्यत्वात् श्रवणस्येत्यर्थः। तथा च परित्यागे सर्वसङ्गरहित्येन स्थितिरपेक्षितेति भावः। ननु मास्तु श्रवणार्थं, कीर्तनस्मरणादिनिमित्तपरित्यागे को दोष इत्य आहुः साधनानामिति। कीर्तनस्मरणादिसाधनानां वाङ्मनसादीनां प्रेमाभावात् स्वतोऽप्रवर्तमानानां प्रयत्नेन कीर्तनस्मरणादिषु रक्षणात् स्थापनात् प्रवर्तनादिति यावत्। तथा च स्वतः प्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि बलेन प्रवर्तनाद्विक्षेपमासादयन्तीति भावः। एवं पादसेवनादिषु सर्वत्रेन्द्रियप्रवृत्तौ स्वयमूह्यम्। दाढ्यार्थं हेत्वन्तराण्याहुः अभिमानादिति। मया सर्वं परित्यक्तं, मत्समः कोपि नास्तीत्येवमादिरूपाद् गर्वादित्यर्थः। तथा चैवं गर्वे सति सर्वेषामुद्वेगजननात् ऐहिको वेदस्मृत्यादिनिन्दनात् पारलौकिकश्चोपद्रव इति भावः। नन्वभिमानत्यागे को दोषोत आहुः नियोगादिति। ईश्वराज्ञालक्षणाद्वेदादेरित्यर्थः। तथा च वेदादिप्रसिद्ध्यतिधर्मानुष्ठाने सति अनुष्ठानरूपव्यासङ्गात् श्रवणस्य सम्यगसिद्धिः, तदनुष्ठानाभावे त्वारूढपतित एव स्यादिति नियोगादुपद्रव इत्यर्थः। ननु “तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायत” इति वाक्याद्भगवदीयैकसङ्गः सन् श्रवणादीनि कुर्वाणः सत्सङ्गवशात् शनैः शनैः स्वतः प्रवर्तमानेन्द्रियो गर्वमप्यकुर्वन् उक्तवाक्याद्यतिधर्मानपि नानुतिष्ठन् सत्सङ्गातिरिक्तं सर्वं परित्यजेत्तदा को दोष इत्याशङ्क्ययाहुः तद्धर्मैरिति। पुष्टिमार्गीयपरित्यागधर्मैरित्यर्थः। तथा च पुष्टिमार्गीयरसिकानुभवैकसाक्षिकभगवद्वरणरूपपरित्यागे भावनासिद्धिर्भावतिरिक्तयावत्साधनानामनभिमतत्वात् भावपोषकविरहानुभवातिरिक्तयावत्पदार्थस्यव्यासङ्गान्तरजनकत्वेन तत्तदनुभवसाक्षिकभावरूपैः प्रकृतपरित्याग धर्मैः विरोधात् परित्यागकारणी भूतप्रेमजनकश्रवणादिसिद्ध्यर्थं कर्तव्यो नेत्याशयः। तथा च विचारस्यारब्धत्वात् प्रकृतप्रयोजनकातिरिक्तपरित्यागकथनम्, वस्तुतस्तु विरहानुभवातिरिक्तप्रयोजनकः परित्यागः पुष्टिमार्गीयभक्तानां बुद्धिस्थोपि न प्रभवति, कुतोस्य कर्तव्यतेति ध्येयम्।

ननु भावविरोधित्वान्मास्तु श्रवणाद्यर्थं, परन्तु पुष्टिमार्गीयभक्तोपदिष्टप्रकारेण साध्यमाने भावलक्षणे स्वरूपानन्दस्य साधने प्रतिबन्धकीभूतभार्यादेस्त्यागे को दोष इत्याशङ्क्याहुः गृहादेरिति। साधनार्थं साधनं भावस्तत्सिद्ध्यर्थं यदि चेत्तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः। तथा च प्रतिबन्धकनिवृत्तिरवश्यं सम्पादनीयेति गृहादेर्भावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकत्वेन चेत् परित्यागो भावरूपसाधनसिद्ध्यर्थमिति भावः। दोषमाहुः अग्रेपीति। तादृशैर्भावसिद्धौ प्रतिबन्धकैरेवेत्यर्थः। तथा च कृतेपि भेषजे न क्षान्तो व्याधिरिति न्यायापात इति भावः। नान्यथेति। ये अन्यथा अतादृशा अबाधकाः साधका इति यावत्तैः सङ्गो न भवतीत्यर्थः। तथोक्तं निबन्धे विवृत्तौ “सन्ति ब्रह्मभावं प्राप्ता नत्वेतादृशा भक्ता” इति। यद्यपि “प्रतिकूले गृहं त्यजेत्” इति निबन्धे प्रोक्तं, तथापि स परित्यागः पूजानिर्वाहजनकत्वेनोक्तः, न त्वेतद्देहावसान एव भजनानन्दरूपफलार्थमिति पूजानिर्वाहको भिन्नः, अयं च भिन्न इत्यनुसन्धेयम्। तथा च पूजानिर्वाहके तु सहायसङ्केत्यादिनोक्तमेव दूषणमित्यपि ध्येयम्। तर्हि प्रकृतगृहादिपरित्यागस्य का गतिरिति चेत्, न। प्रकृते तु गृह एव तिष्ठन्नविरतमेव तन्मार्गीयोपदिष्टप्रकारेण भावनां कुर्वाणः सिद्धभावलक्षणसाधनः सन् गृहादि सर्वं परित्यजति विरहानुभवार्थं, न तु साधनसिद्ध्यर्थमिति सर्वमवदातम्। ननु बाधकं गृहादि परित्यज्य सर्वसङ्गरहितः सन् भावनया भावलक्षणं साधनं साधयेत्तदा को दोष इति अत आहुः स्वयं चेति। आहारादिविषयाप्राप्त्या क्लिष्टः सन् तदेव ध्यायन् विषयाक्रान्तः स्यात्। ततो मनसेन्द्रियार्थान् स्मरन् मिथ्याचारपदवाच्यः पाषण्डी तु भवेत्, तथा च भावरूपेष्टसिद्धिस्तु दूरे, प्रत्युतानिष्टसिद्धिरिति भावः। नन्विन्द्रियनिग्रहे सर्वमुपपद्यत इत्यत आहुः कालत इति। कलाविन्द्रियनिग्रहस्य दुःसाध्यत्वादित्यर्थः। विषयाक्रान्तत्वे पाषण्डित्वम्, एकमनिष्टमुक्त्वा द्वितीयं बलवदनिष्टमाहुः विषयाक्रान्तेति। देहो लिङ्गशरीरं तस्य मोक्षपर्यन्तमनवरतमुपचीयमानत्वादद्देहपदेनोक्तिः, एवञ्च लिङ्गशरीराध्यक्षत्वेन (अध्यस्तत्वेन) तदभेदं मन्यमान आत्मैव (देह) पदेनोच्यते, तथा च विषयाक्रान्तात्मनां भगवदावेशः कदापि न भवतीत्यर्थः। इत्थं च यदर्थं सर्वोप्युद्यमस्तस्यैवासिद्धेर्महदेवानिष्टमित्यर्थः। उपसंहरन्ति अतोत्रेति। यत उक्तदूषणानि अतो भक्तौ श्रवणादिसिद्ध्यर्थं अत्र साधने अनन्यभावलक्षणसाधनसिद्ध्यर्थं च परित्यागो नैव सुखावह इत्यर्थः॥३-६॥

एवं प्रयोजनान्तरेण प्रयोजनान्तरकृतपरित्यागे च दूषणमुक्त्वा प्रकृतप्रयोजनमाहुः।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥७॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते॥८॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥९॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सन्यासेन विशेषितात्।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत्॥१०॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि॥११॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि॥१२॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते॥१३॥

दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा॥१३ १/२॥

निरोधलक्षणे “हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि”
इत्याद्युक्तप्रकारेणान्तररमणान्तःपातिसंयोगविशेषानुभवेनोत्पन्नस्यो त्कण्ठाविशेषस्य
विषयीभूतानां भगवत्स्वरूपनिष्ठतत्तत्पदार्थानामनवाप्तेर्भवति हि विरहस्तदनुभवाय
परित्यागः प्रशस्त इत्यर्थः। प्रयोजनमुक्त्वा प्रकारमाहुः। अत्रास्मिन् परित्यागे वेदादिषु
प्रसिद्धः स वेशो बन्धुजनकृतबन्धनाशनिमित्तत्वेनैव स्वीकार्यः, न तु संस्कारत्वेनेत्यर्थः।
काषायदण्डादिधारणं तत्प्रयोजनं चोक्त्वा गुरुमाहुः। भगवदर्थमेव सर्वविषयत्यजनात्
कौण्डिन्यो गुरुः, गोपिकास्तु सर्वप्रकारेषु गुरव इत्याशयः। गुरुमुक्त्वा साधनमाहुः
साधनं चेति। तत् पुष्टिमार्गीयरसिकेषु प्रसिद्धमित्यर्थः। किं तदत आहुः भाव इति।
ननु भावे किं साधनमित्याकाङ्क्षायामाहुः भावनयेति। भावे भावनैव साधनम्, अन्यत्
साधनान्तरं तद्रसिकसम्मतं नेत्यर्थः। तथा च ज्ञानमार्गीयपरित्यागे
श्रवणमननादिभिरुत्पन्नं ज्ञानं मोक्षे साधनं, तथा भावनया सिद्धो भावः स्वरूपानन्दे
साधनमिति भावः। साधनमुक्त्वेदानीमस्य ज्ञानिसदृशी दशान्यादृशी वेत्य आहुः।
विकलत्वमात्माद्यनुसन्धानराहित्यम्। अस्वास्थ्यमभिलषितार्थानवाप्तेया
‘वद्विषयनिर्वेदादनिवृत्तिरिति यावत्। तथा च सङ्कल्पप्रतिभाते भगवति जातासु
चक्षूरागचित्तासङ्गसङ्कल्पनिद्राच्छेदतनुताविषयनिवृत्तित्रपानाशोन्मादमूर्छान्तासु
नवस्ववस्थासु विषयनिवृत्तिपर्यन्तानामस्वास्थ्यपदेन त्रपानाशोन्मादमूर्छानां
विकलत्वमित्यनेनोक्तिरिति ध्येयम्। एवं च अस्वास्थ्यं विकलत्वं च
भावनासिद्धभाववतः प्रकृतिः स्वभावः स्वाभाविकमिति यावत्। हि निश्चयेन प्राकृतं
न, प्राकृताः सत्त्वरजस्तमोगुणास्तत्सम्बन्धि न भवतीत्यर्थः। ननु गुणजन्यज्ञानेनापि
जडोन्मत्तसदृग्व्यवस्थाजननात् भवति विकलत्वं, तथा तमोगुणजन्यप्रमादमोहाज्ञानैरपि
तज्जायते। एवं रजोगुणजन्यलौकिकविषयलोभे सति लौकिकविषयानवाप्तेरपि
स्यादस्वास्थ्यम्। तथा चैतेपि विकलत्वास्वास्थ्ये प्राकृते एवेत्याशङ्क्ययाहुः
ज्ञानमिति। एवं वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यसहितैतादशभाववतो निर्गुणमपि

ज्ञानं बाधकं, गुणा अपि बाधकाः, तथा च यद्यप्रतिबध्यं निर्गुणं ज्ञानं स्यात्तदैकात्म्यस्फूर्त्यादयः, यदि च सत्त्वरजस्तमांसि स्युस्तदा सगुणज्ञानलौकिकविषयलोभप्रमादमोहाज्ञानैश्च प्रतिबन्धजननात् अयं भाव एव नोत्पद्येतेत्यन्यथानुपपत्त्या ज्ञानस्य गुणानां चाभावनिश्चयाद्विकलत्वास्वास्थ्ययोः प्राकृतत्वं दुर्वचमित्याशयः। न च गतिस्मितप्रेक्षणेत्यादिनिरूपितैकात्म्यस्फूर्तिरपि प्रतिबन्धिकास्त्विति वाच्यम्। तस्यास्तूत्तरसामयिकभावान्तरेण प्रतिबध्यत्वात्। यद्यपि पुष्टिमार्गीयैकात्म्यस्फूर्तिलक्षणं रसान्तःपाति निर्गुणं ज्ञानमप्रतिबध्यमप्रसिद्धमेव, तथापि “मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत”मिति भगवद्वाक्याद्भगवद्विषयकं भगवच्चरणारविन्दरूपाक्षरविषयकं च ज्ञानं सत्त्वगुणजन्यमपि ज्ञानं निर्गुणमेव, तच्चाप्रतिबध्यं सत् प्रतिबन्धकमिति बोध्यम्। एवं च निर्गुणं ज्ञानं प्रतिबन्धकं यत्र, तत्र गुणानां प्रतिबन्धकत्वे किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायप्रदर्शनपूर्वकं गुणानां प्रतिबन्धकत्वाय ज्ञानमित्युक्तमिति विभावनीयम्। ननु रजस्तमसोरास्तां लौकिकविषयलोभादिजननेन प्रतिबन्धकता, सत्त्वस्य तु ज्ञानमात्रजननेन कथं प्रतिबन्धकतेत्याशङ्क्यय तुरीयाश्रमविहितश्रवणादिना सत्त्वगुणोद्रेकात् जातस्य सगुणज्ञानस्यमोक्षरूपफलान्तरविषयकेच्छाजननपूर्वकं सत्यलोकलक्षणफलजननात् प्रतिबन्धकत्वमाहुः। विशेषितात् सहकृतादित्यर्थः। नन्वत्र ब्रह्मणा सह मोक्षोपि, ततोर्वाक् ब्रह्मलोकीयसुखानुभव इति फलद्वयजननेन पुष्टिमार्गादुत्कृष्ट इत्यत आहुः। यत्र भावे यथा भावना कारणं तत्र तथा फलमपि स्यात्, तथा च भावनया यथा भावो जन्यते, तथा भावेन स्वफलमपि जन्यत इत्यर्थः। एवं च भावनयास्मिन्नेव जन्मनि भावो जन्यते यथा, तथा भावेन भजनानन्दलक्षणं स्वफलमपि झटित्येतद्देहावसानाव्यवहितोत्तरक्षण एव जन्यत इति भावः। एवं भावस्योत्कर्षमुक्त्वा ज्ञानस्यापकर्षमाहुः तादृशा इति। अप्राप्तमोक्षा एवेत्यर्थः। इत्थं चानेकजन्मक्रियमाणयोगाभ्यासादिभिर्ज्ञानं विलम्बेन जन्यते यथा, तथा ज्ञानमपि ब्रह्मस्थितिपर्यन्तं ब्रह्मलोके स्थापयित्वा ब्रह्मणा सह मोक्षजननाद्विलम्बेनैव स्वफलमपि जनयतीत्येवमादिरूपाद्भावात् भावसाधनात् भावफलाच्च स्फुटतर एव ज्ञाने ज्ञानसाधने ज्ञानफलेचापकर्ष इति भावः। नन्वास्तां तावत् भावस्त्वरया फलजनकः, परन्तु यदुक्तं स्वसाधनीभूतभावनातः सत्त्वरमुत्पन्नत्वात् स्वफलमपि सत्त्वरमेव जनयति भावस्तन्न साधु। नहि वर्षशतेन पुष्टो दृढदण्डो घटजननेऽचिरयति, नवा सत्त्वरमुत्पन्नं कपालं सति प्रतिबन्धे सज्जीभवति घटमुत्पादयितुम्, तथा च को हेतुर्भावस्य सत्त्वरफलोत्पादन इत्याशङ्क्य आहुः। यथा दारुण्यभिभूतो वह्निर्मथनेनोद्भूतः सन्नन्तःप्रविष्टः सर्वं भस्मसात्करोति तथाविर्भूतो भगवान् सर्वमप्यविद्यारूपं बन्धं नाशयतीत्यर्थः। तथा च व्यापकत्वात् सर्वत्रैव भगवानस्ति, यदा तु भक्त्या अन्तःकरणे प्रकटीभूयान्तःकरणे प्रकटो भवति, न कदाचित्तिरोधते इति यावत्, तदा झटित्यविद्यानाशत् स्वरूपानन्दानुभव इति भावः। न चेति ज्ञानमार्गीयप्रकारेण नैवमित्यर्थः। ज्ञाने तु स्वापप्रबोधवदुदयानुदयाभ्यां चिरेण ब्रह्मणा सह मुक्तिरिति

भावः। नन्वविद्याबद्धस्य जीवनं सम्भवति, नत्वबद्धस्य। तथा च बन्धे नष्टे किं प्रयोजनं जीवनस्य, किं वा जीवनसाधनमिति आशङ्क्याहुः। तुशब्दात् कारणान्तरव्यावृत्तिः। भगवद्गुणा एव जीवनं सम्पादयन्ति। हि निश्चितोयमर्थ इत्यर्थः। ननु गुणाः किमर्थं जीवयन्तीत्यत आहुः सङ्गेति। सङ्गराहित्याद्विरहात् प्रयोजनीभूतादित्यर्थः। तथा च भजनानन्दानुभवयोग्यता सम्पादकविरहानुभवसिद्धिनिमित्तं गुणा एव जीवनार्थं भवन्तीत्याशयः। ननु सर्वसमर्थो भगवान् यथा गुणैर्जीवयति, तथा संयोगेनैव कुतो न जीवयति, यतः किञ्चित् स्वास्थ्यमपि स्यादित्याशङ्क्ययाहुः भगवानिति। यदि संयोगं सम्पादयेत्तदा भजनानन्दानुभवयोग्यताजनकविरहनाशजननेनास्वास्थ्यपगमात्, स्वयमेव प्रतिबन्धकः स्यात्, तथा च फलरूपस्य स्वस्य स्वप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वं नोचितमित्यर्थः। नन्वतिक्लेशात् कदाचिद्द्वैरेण्यास्य मनसि फलप्राप्तिसन्देहोदयजन्यमस्वास्थ्यं स्यात्तन्निवृत्त्यर्थं सन्देहनिवारकं वचनं वक्तव्यम्, यथा ब्रह्मानन्ददानार्थं यतमानं नारदं प्रति “गन्ता मज्जनतामसी” इत्युक्तवांस्तथेत्याशङ्क्ययाहुः स्वास्थ्येति। कर्तुमेव योग्यं न भवति यतोऽयं दयालुरनुग्रहकर्ता यतश्च स्वयं न विरुध्यते। विरोधी नातो हेतोः, तथा च स्वेच्छयानुगृह्य दुर्लभपरित्यागपर्यन्तं सर्वं सम्पादितवान्, अतो दयालुर्यतश्च स्वप्रापकभावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकं न कृतवानतोऽविरोधी, इत्थं चाविरुद्धानुग्राहको भगवांस्तथैव मनः प्रेरयति यथा न सन्देहोदयः, न च तज्जन्यमस्वास्थ्यमिति तादृशवाक्यं प्रयोजनाभावान्न कर्तुमुचितमिति भावः। इदानीं प्रकृतपरित्यागाधिकारं वदन्त उपसंहरन्ति **दुर्लभोयमिति**। ज्ञानमार्गीयवैराग्यमिवात्र व्यसनरूपं प्रेम साधकम्। तथा च प्रेमवानधिकारीत्यर्थः। नेति। प्रेमाभावेऽयं **परित्यागः** सिध्यत्येव नेत्यर्थः। **दुर्लभो** भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वादुदुःप्राप इत्यर्थः॥७-१३ १/२॥

इत्थं प्रकृतमुपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयसन्न्यासे किञ्चिदाहुः॥

ज्ञानमार्गे तु सन्न्यासो द्विविधोपि विचारितः॥१४॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥१५॥

अतः कलौ स सन्न्यास पश्चात्तापाय नान्यथा।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न सन्न्यसेत्॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्॥१६ १/२॥

विचारित इत्यविचारेपि सिद्धवन्निर्देशाद्वस्तुतोत्र न किञ्चिद्विचार्यमस्तीत्यर्थः तथाहि, विद्वत्सन्न्यासस्य प्रकृतपरित्यागविचार एव प्रसङ्गाद्व्यवस्थोक्तैव सत्यलोक इत्यादिना परमवशिष्यते विविदिषासन्न्यासः, तस्य तूच्यत एवेति न किञ्चिदपि विचार्यमस्तीत्याशयः अवशिष्टव्यवस्थामाहुः **ज्ञानार्थमिति**। उत्तरस्य स्वजन्यज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्स्यमानस्य मोक्षस्य अङ्गपरम्परया प्रयोजकः, न तु

साक्षाज्जनक, तथा चैतादृशपरित्यागो ज्ञानोत्पत्त्यर्थं चेत्क्रियेतेत्याशयः। दोषमाहुः सिद्धिरिति। परन्तु तत्फलमनेकैर्जन्मभिर्भवतीत्यर्थः। ननु सत्वरमेव कुतो न भवतीत्यत आहुः ज्ञानं चेति। यज्ञा आदिर्यस्येदृशश्रवणाद्भवति, यतः साधनापेक्षं मतं कारणसापेक्षं स्वीकृतं सर्वैरित्यर्थः। तथा च यतेर्मानसमखानामावश्यकत्वात् कृतिपूर्वकमेव श्रवणमुचितम्। इत्थं च मानसमखश्रवणयोस्तत्तदिन्द्रियनिग्रहाधीनत्वात्निग्रहस्य सुतरामशक्यत्वाच्चानेकैरपि जन्मभिः सिद्धिर्दूरतरा ज्ञानस्येति भावः। उक्तं च निबन्धे “तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः। विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित् सत्ययुगे पुमा” निति ध्येयम्। इममेवार्थमाहुः अत इति। सत्ययुगे कदाचिदपि सिद्धिः, कलौ तु पश्चात्तापातिरिक्तं किमपि फलं न भवतीत्याशयः। नेति। अस्मिन्नर्थे न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्यर्थः। एवमत्रेष्टसिद्ध्यभावमात्रं न, किन्त्वनिष्टसिद्धिरपि भवतीत्याहुः पाषण्डित्वमिति। यथोक्ताश्रमधर्माणामनाचरणाद्वेदमार्गाच्च्युतेः पाषण्डित्वं, चकारान्नरकोपि स्यादित्यर्थः। उपसंहरन्ति तस्मादिति। ज्ञाने ज्ञानमार्गे सन्न्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः। इत्थमकर्तव्यत्वसाम्यादुपस्थितज्ञानमार्गीयसन्न्यासस्य स्थूणानिखननन्यायेन पुनरकर्तव्यतामाहुः सुतरामिति। कलिदोष प्राबल्यात् सुतरां न कर्तव्य इति स्थितं, प्रथममेवोक्तमभून्मयेत्याशयः। तथा चोभावपि न कर्तव्यौ, समानदोषत्वादिति भावः॥१४-१६ १/२॥

एवं मार्गान्तरीययोः सदोषत्वमुक्त्वा प्रकृतस्य सयुक्तिकं निर्दोषत्वमाहुः।

भक्तिमार्गेऽपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते॥१७॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः॥

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत्॥१८॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥१९॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति॥२०॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्॥

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥२१॥

भक्तिमार्गे परित्यागकृतौ यदि दोषस्याभावना तदा किं कर्तव्यमित्यर्थः। तथा च परित्यागः कर्तव्यो न कर्तव्यो वेत्याशङ्कायां समाधानमुच्यत इत्यर्थः। समाधानं वदन्तः प्रथमं प्रवृत्तिप्रतिबन्धकविघ्नरूपं दोषमाशङ्क्य तदभावमाहुः। अत्रास्मिन् परित्यागे आरम्भे प्रवृत्तौ नाशो विघ्नो न भवेदित्यर्थः। ननु मास्तु प्रवृत्तौ प्रतिबन्धकस्तदभावस्यानुभविकत्वात् परन्तु फले प्रतिबन्धकान्तरानुमाने को दोष इत्यत आहुः दृष्टान्तेति। अनुमानस्य दृष्टान्तसापेक्षत्वात्तदभावादनुमातुं न शक्यत इत्यर्थः। अपिशब्दात् सद्भेतोरप्यभावान्नानुमानमित्याशयः। ननु लौकिकविषयानुरागात्

स्वर्गाद्यक्षरानन्दतामुष्मिकफलाभिलाषाच्चास्वास्थ्यनाशेन फलप्रतिबन्धलक्षणो दोष प्रकृतपरित्यागेपीत्याशङ्क्याहुः **स्वास्थ्येति**। स्वास्थ्यहेतोरस्वास्थ्यनाशकस्येत्यर्थः। तथा च भजनानन्दातिरिक्तयावदभिलाषविषयाणां प्रथममेव तुच्छीकृत्य परित्यक्तत्वात्तदभिलाषाभावेन फलप्रतिबन्धः केन स्यात्, न केनापीत्यर्थः। ननु कालादयश्चेत्प्रतिबन्धकाः स्युरत आहुः **हरिरिति**। अपरे कालादय इत्यर्थः। पूर्वपक्षिणं मनसिकृत्याहुः अन्यथेति। प्रश्ने चासन्नकाल इति सूत्रेणासन्नकालिक्यां क्रियायां पृच्छमानायां पुपुषुरिति लिट्। अन्यथा बाधां करोति भगवानिति, यदि त्वं निश्चितोसि तदाहं पृच्छामि, क्वचिदद्य प्रातः सङ्गवे वा **मातरो बालान् स्तन्यैर्न पुपुषुः** किमित्यर्थः। तथा चैतावत्कालं तु मातरोर्भकपोषणपरा एव सर्वसम्मतास्त्वया त्वद्य किमपुष्णन्त्यो दृष्टा इतीदृशः प्रश्नः पुपुषुरित्यस्य वाच्यः। इत्थं च यद्यसम्भावितमर्भकपोषाभावमद्राक्षीस्तदा भगवत्कृतबाधामपि मनस्यानयेः। एवं चोभयमपि शशविषाणायमानमिति भावः। ननु दैवात् मिलिता ज्ञानिनः स्वानुभवज्ञापनपूर्वकं स्वमार्गोपदेशं कुर्युस्तदा का गतिरत आहुः। यद्वा, ननु भगवान् स्वयं प्रतिबन्धं न जनयति, परन्तु सर्वमोहिका माया चेन्मोहमुत्पाद्य मार्गान्तररुचिलक्षणं प्रतिबन्धं जनयेदित्याशङ्क्ययाहुः। **ज्ञानिनामपीति च वाक्यं चेति** कर्मधारयः। तथा च “ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती”ति वाक्येनेत्यर्थः। एवं चास्मिन् वाक्ये ज्ञानिनामित्युक्तम्, नतु भक्तानामपीत्यतो ज्ञानिमोहजनन एवास्य शक्तिर्न तु भक्तमोहजनन इत्याशयः। **मोहेति**। अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्त्वेतन्मार्गान्यथानुपपत्यैव निश्चितः, परमवशिष्यते सन्दिग्धसम्भवो भविष्यमाणः स तु पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न मोहयिष्यतीत्यनेन परिहियत इति ध्येयम्। ननु भगवदिच्छाया दुरूहतरत्वाद्भगवतः स्वतन्त्रतमत्वात् कदाचित्स्वयमपि मोहयेदत आहुः **आत्मप्रद इति**। लुब्धो द्वेष्टा वाऽभविष्यदमोहयिष्यद्भगवांस्तु जीवकृतिसाध्यसाधननिरपेक्षः सन् स्वात्मानमपि प्रकर्षेण दददुदारः, तथा द्वेष्टापि न भवति, उदासीनोपि न भवति, अपि तु प्रियः, तथा च प्रयोजनयोः लोभद्वेषयोरभावान्नैव मोहयिष्यतीत्यर्थः। अत्रापि अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्तु वरणान्यथानुपपत्यैव निश्चितः अवशिष्टस्य तूच्यत एवेति ध्येयम्। एवं प्रकृतपरित्यागे दोषाभावमुपपाद्य प्रवृत्तिं विदधति। यस्मात्सर्वथा निर्दोषस्तस्मादुक्तप्रकारेण “स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं वेश” इत्याद्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः। स्वार्थाद्विरहानुभवलक्षणस्वप्रयोजनात् रहितो भवतीत्यर्थः। किमत्र प्रमाणमत आहुः इति मे इति निश्चिता साक्षात्कृतविषया मतिरेव प्रमाणमित्याशयः॥१७-२१॥

नन्वयं परित्यागः किं तुरीयाश्रमः, किं वा भक्तिमार्गीयः साधनविशेष इति सन्दिहानं प्रत्याहुः।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्।

सन्न्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत्॥२२॥

इति समाप्तोयं ग्रन्थ इत्यर्थः। भगवत्प्रसन्नतया हेतुभूतया साक्षात्कृतमित्यर्थः। भक्तौ भक्तिमार्गे सन्यासवरणं परित्यागलक्षणो भगवदङ्गीकारः। तथा च नायं तुरीयाश्रमः, न वा भक्तिमार्गीयः स्वकृतिसाध्यः साधनविशेषः, किन्तु भगवत्कृतौ जीवस्याङ्गीकाररूपोयं परित्याग इत्याशयः। अन्यथाङ्गीकाराभावे पतितोऽस्मान्मार्गात् च्युतो भवेत्। तथा चैतन्मार्गाच्च्युतिः पातित्यमेवेति पतितपदप्रयोग इति बोध्यम्। इत्थं च भगवानेव स्वभिन्नयावल्लौकिकालौकिकविषयेभ्योन्तःकरणं निरुध्य यदि स्वस्मिन् व्यसनं सम्पादयेत्तदायं परित्यागोभजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पा

दकविरहानुभवार्थं कर्तव्यः, नो चेत्तनुवित्तजैव सेवा कर्तव्येति श्रीमदाचार्यचरणानामाशयोऽनिशमनुसन्धेयः। तथा चोक्तं विद्वन्मण्डने श्रीमत्प्रभुचरणैः “तस्माज्जीवानां मर्यादैव हितकारिणी”ति।

चाचाश्रीगोपेशकृता सन्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा॥